अथ षष्ठोऽध्यायः

मुनियों का भरतमुनि से प्रश्न—

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महत्तमाः ।
भरतं मुनयः सर्वे प्रश्नान्पञ्चाभिधत्स्व नः ॥ १ ॥

(पिछले अध्याय में वर्णित) पूर्वरंग के विधान को सुनकर सब महत्तम मुनि लोग भरत से (प्रथम अध्याय में पूछे गए) पाँचों प्रश्नों का उत्तर पूँछने लगे ॥ १ ॥

ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नाट्यशास्त्र के ज्ञाता लोग नाट्य में जिनको रस कहते हैं उनमें रसत्व क्या है, यह बतलाने की कृपा कीजिए[२] ॥ २ ॥

भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि ।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भावों के विषय में किस लिए प्रतिपादन किया गया है और वह किसे भावित करते हैं ? इसके अतिरिक्त उन भावों के संग्रह[३], कारिका[४] एवं निरुक्त[५] के विषय में

---

१. मुनि लोगों ने अब जो पाँच प्रश्न पूछे हैं वह नये हैं किन्तु अभिनवगुप्त के मत में वे प्रथम अध्याय में किये गये पाँचों प्रश्नों का विस्तार मात्र हैं ।

२. अभिनव की व्याख्यानुसार "रसानाथर्वणात्" (ना० शा० १-१७) में जिन रसों का उल्लेख हुआ है वे अम्लादि छः रस नाट्य के किसी भी रूप में प्रयुक्त नहीं होते तथा 'शृङ्गार रसपरक श्लोक है' या 'यह रौद्ररसपरक श्लोक है' आदि के उद्गारों से जिस शृङ्गारादि को रस माना गया हैं वहाँ रस-पद-वाच्यता कैसे होगी ? क्योंकि रस नामक गुण का ग्रहण तो रसनेन्द्रिय के ही द्वारा संभव है और शृङ्गारादि रसनाग्राह्य नहीं हो सकते । इसके प्रति अत्यन्त आदर भावना दिखायी पड़ती है अतः उसका विवेचन भी आवश्यक है । (न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्यते 'खिन्नानां रसभावेषु' इत्यादावादरातिशयप्रतीतेः) यही कारण है कि अंगों एवं अभिनय के अन्तर्गत इसका आंशिक विवेचन हो चुकने पर भी अलग से रस के विषय में पूँछा जा रहा है ।

३. संग्रह का तात्पर्य है—उद्देश्य । श्रीघोष ने इसका अर्थ 'डाइजेस्ट' माना है ।

४. कारिका का अर्थ लक्षण है ।

५. निरुक्त का तात्पर्य परीक्षा है ।

भी बतलाइये क्योंकि भाव की सिद्धि तो इन्हीं के द्वारा होती है ॥ ३ ॥

भरतमुनि का उत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥

ऋषियों के इस कथन को सुनकर भरत मुनि रस तथा भावों के लक्षणपरक इन वाक्यों को बोले ॥ ४ ॥

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं च यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

हे मुनिजन ! मैं आपको विस्तारपूर्वक संग्रह, कारिका तथा निरुक्त (के साथ रस एवं भावों) के विषय में क्रमशः बतलाऊँगा ॥ ५ ॥

न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
कस्याद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः ॥ ६ ॥

इस नाट्य का अन्त पाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान तथा शिल्प[1] अनन्त है (अतः उनके प्रतिपादक होने से नाट्य की भी कोई सीमा नहीं है) ॥ ६ ॥

एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥ ७ ॥

क्योंकि इनमें से एक भी विद्या के समुद्र को पार करना असम्भव है तो फिर सभी ज्ञानों के तात्त्विक आशय तक पहुँचना नितान्त दुष्कर है[2] ॥ ७ ॥

किन्त्वल्पसूत्र-ग्रन्थार्थ[3]मनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसङ्ग्रहम् ॥ ८ ॥

फिर भी आप लोगों को सूत्र तथा ग्रन्थ (परीक्षा) के भूत अर्थ वाले तथा अनुमान से सिद्ध होने वाले, रस एवं भाव के संग्रह रूप इस नाट्य को बतलाता हूँ ॥ ८ ॥

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन सग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मत में यहाँ ज्ञान शब्द से व्याकरणादि शास्त्रों का एवं शिल्प से चित्र-पुस्तकादि कर्म का संकेत किया गया है ।

२. अभिनवभारती के अनुसार जब अंगभूत विद्याओं का ही पार पाना कठिन है तो फिर अंगीभूत नाट्य को पार पाना तो नितान्त कठिन है ।

३. 'गूढार्थम्' इति वा पाठः ।

सूत्र एवं भाष्य के विस्तारपूर्वक प्रतिपादित अर्थों को[1] संक्षिप्तरूप में जब निबद्ध किया जाता है, तो उसे ही विद्वज्जन 'संग्रह' कहते हैं ॥ ९ ॥

नाट्यशास्त्र विषयक संग्रह के ११ अङ्ग—

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ १० ॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान एवं रङ्ग को 'संग्रह' कहा जाता है[2] ॥ १० ॥

कारिका लक्षण—

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः।
सूत्रतः साऽनुपठिता[3] कारिकार्थप्रदर्शिनी ॥ ११ ॥

विद्वान् लोग जब किसी अर्थ को संक्षेप में सीमित शब्दों वाले सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं तो उस अर्थनिबोधिनी उक्ति को 'कारिका' कहा जाता है[4] ॥ ११ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मत में सूत्र द्वारा लक्षण का परिज्ञान कराया जाता है (सूत्रं लक्षणम्) और लक्षण को भाष्य में भलीभाँति विस्तार दिया जाता है (भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा)।

२. आचार्य अभिनवगुप्त का अभिमत है कि यद्यपि यहाँ संग्रह के एकादश अंग बताये गये हैं किन्तु वे भरतसम्मत न होकर कोहलाचार्य के मतानुसार हैं। (अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते। तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोपद्देशः)। भरत के अनुसार केवल पाँच अंग होने चाहिये जिनमें त्रिविध अभिनय एवं गान तथा वाद्य का समावेश होता है (अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्।)

३. 'साऽनुमन्तव्या' इति वा पाठः।

४. अभिनवगुप्त के मत में सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाने वाला अर्थ और अर्थ को व्यक्त करने वाली उक्ति (सूत्र) एवं सूत्र के अर्थ को प्रतिपादित करने वाले श्लोक–इन तीनों की संज्ञा 'कारिका' है (अनेन अर्थस्य लक्षणरूपस्य, तद्वाचकस्य सूत्रस्य, तत्संक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य कारिकात्वं दर्शयति)।

कारिका की इस परिभाषा को देखते हुए दो प्रकार की कारिकाओं की स्थिति सिद्ध होती है—१. सूत्रात्मक कारिका, एवं २. श्लोकात्मक कारिका। कारिका के द्वारा पद्यात्मक रूप में तथा सूत्ररूप में लक्षणात्मक अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, जिसमें लक्षणीय अर्थ का अन्य धर्मियों से भेद प्रतीत होता हैं अर्थात् लक्षण को ही कारिका कहा जाता है।

निरुक्त लक्षण—

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुनिगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥ १२ ॥
स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥ १३ ॥

विविध प्रकार की संज्ञा के आश्रय से (अर्थान्त् सुबन्त से) उत्पन्न होने वाले एवं कोश तथा व्याकरण के नियमों के अनुकूल, तथा सहेतु अर्थ की ज्ञापक मूल धातु से युक्त एवं अनेक प्रकार के सिद्धान्तों से साधित (परीक्षित) तथा संक्षेप में आशय को प्रकट करने वाली एवं धातु के अर्थ का समर्थन करने वाली उक्ति को "निरुक्त" कहते हैं[1] ॥ १२-१३ ॥

---

१. अभिनवगुप्ताचार्य ने शंका उठाई है कि नाम (सुबन्त) पदों में आक्षेप एवं प्रतिसमाधान किस प्रकार होता है ? तथा इसका समाधान इस रूप में किया है कि निघण्टु (शब्दकोश) तथा निगम (शब्दशास्त्र) के द्वारा ऐसा किया जाता है । निघण्टु से रूढ़ शब्दों की एवं निगम से यौगिक या योगरूढ़ शब्दों की व्याख्या की जाती है ।

लक्षणवाक्य में जिस धातु के अर्थ का संयोग स्थापना के निमित्त किया जाता है उसे भी 'निरुक्त' कहते हैं । इसके अन्तर्गत लक्षण वाक्य में पहले आक्षेप किया जाता है कि इस अर्थ का प्रयोग इस विशिष्ट अर्थ में किस भांति हुआ है और फिर इसकी विवेचना करते हुए उत्तर दिया जाता है । निरुक्त के चार भेद हैं:—

१. नाम या प्रातिपादिक के द्वारा व्याख्या करना, यथा—उलूखल शब्द की 'ऊर्ध्वं" खमस्योलूखलः" इस प्रकार निर्वचन करना ।

२. धातु के द्वारा व्याख्या करना । जैसे—रस शब्द को 'रस्यते इति रसः' इस प्रकार रस्यते क्रिया का प्रयोग करते हुए विवेचित करना ।

३. नाम एवं धातु दोनों के द्वारा व्याख्या करना । यथा–पिशाच शब्द की "पिशित-मश्नातीति पिशाचः" है इस भांति व्याख्या करने के लिए पिशित शब्द एवं अश्नाति क्रिया, दोनों का प्रयोग किया जाता है ।

४. संकेत के द्वारा । संकेत द्वारा व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है ।

(अ) लौकिक शब्द से, यथा—'भू सत्तायाम्' ।

(ब) वैदिक शब्द से, जैसे—केवल वेद में प्रयुक्त दीधीङ् धातु दीप्ति और देवन (अक्षक्रीडन) के अर्थ में प्रयुक्त की जाती है ।

(स) पारिभाषिक शब्द से, जैसे—गान्धर्व वेद में विशेषगीत के सन्दर्भ में प्रयुक्त

संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥ १४ ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मैने सूक्ष्म रूप में जो संग्रह (उद्देश) बताया है उसी के विस्तार (विभाग) को मैं लक्षण (कारिका) तथा परीक्षण (निरुक्त) के साथ बतलाऊँगा ॥ १४ ॥

आठ रस—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १५ ॥

नाट्य[1] में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स एवं अद्भुत नामक आठ रस होते हैं ॥ १५ ॥

होने वाला 'ओवेणक' शब्द। इस प्रकार के पारिभाषिक शब्द प्रत्येक शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं जो उस विशेष शास्त्र के संन्दर्भ में एक विशेष अर्थ के द्योतक होते हैं; यथा पाणिनि के वृद्ध, वि, टि आदि संकेत।

१. अभिनवगुप्ताचार्य के मत में नाट्य उस अर्थ को कहते हैं जो नट द्वारा प्रदर्शित अभिनय के फलस्वरूप साक्षात् रूप से दृश्यमान होता है तथा एकाग्र मन से अनुभूत किया जाता है। उसका ज्ञान सभी नाटकों और कभी कभी किसी काव्य से भी होता है (तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः)।

आलम्बन एवं उद्दीपन रूपी विभावों की बहुलता के कारण नाट्य अनन्तविभावादि रूप है, तथापि समस्त विभावों का पर्यवासन ज्ञान में एवं ज्ञान का पर्यवसान उपभोक्ता में तथा भोक्ताओं के ज्ञान का पर्यवसान नायक में होने के कारण नायक की रत्यादि स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति को ही नाट्य माना जाता है।

अभिनवगुप्त का मत हैं कि नायक की चित्तवृत्ति, (जो कि प्रधान चित्तवृत्ति रूपा होती है) ही लौकिक गीतों के गेयपदादि, लास्य नृत्य के दस अंगों, तथा स्वीकृत लक्षणयुक्त गुण, अलंकार, गीत, वाद्य आदि के संयोग द्वारा अत्यधिक रमणीय होकर काव्य के प्रभाव एवं नट द्वारा अनुष्ठित प्रयोग एवं परम्परा अभ्यासविशेषण के प्रभाव से स्वकीय परकीय की भावना से रहित होकर—साधारणीकरण हो जाने से नायक की चित्तवृत्ति की परिधि में सामाजिक का भी प्रवेश होने से नायक और सामाजिक की चित्तवृत्ति में अभेद या साधारणीकरण होने से, अनुमान, आगमरूप

परीक्षात्मक एवं इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना ही उद्भूत योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न रसादि के अनुभव से उदासीन प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण और लौकिक चित्त-वृत्ति से भिन्नरूपा प्रतीत होने वाली, नायक के अपने सीमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना आदि से उत्पन्न अपनी रीति और शोक की भाँति अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ होने से निर्विघ्न अनुभूति के विश्रान्ति स्वरूप आस्वादन नाम की प्रक्रिया स्वीकृत होने के कारण "रस" कही जाती है।

अभिनवगुप्ताचार्य की सुदृढ़ मान्यता है कि रस ही नाट्य है (रस एव नाट्यम्)। यह रस त्रिविध है (१) स्फोट के समान असत्यभूत, (२) अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्यरूप तथा (३) अभिहितान्वयवाद के समान—प्रधान रस समुदाय-रूप। इस प्रकार के अन्य रस प्रधानरस के अंशरूप में वर्णित किए जाते है। यहाँ यह स्मणीय है कि स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वर्ण, पद एवं वाक्य अखण्ड होते है, वाक्य में पदों की तथा पदों में वर्णों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। स्फोटवाद में अखण्डपदों को "पदस्फोट" तथा अखण्डवाक्य को "वाक्यस्फोट" कहा जाता है तथा यह स्फोट ही अर्थ का प्रकाशक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वाक्य एवं पद में अवयवों की प्रतीति असत्य रूपा होती है और अखण्ड रूप से वहाँ अर्थ का प्रकाशन होता है उसी प्रकार नाट्य में भी रस की प्रतीति अखण्डाभिव्यक्तिरूपा होती है।

इसी सन्दर्भ में अन्विताभिधानवाद का भी परिचय देना उपयुक्त होगा। इस वाद में वाक्यार्थ बोध के लिए पदों का अभिहित होने के बाद अन्वय नहीं माना जाता। अपितु पदों के द्वारा अन्वित अर्थ को ही अभिहित माना जाता है। इस प्रकार अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होने से पदार्थ ही सत्य होता है। उनकी अलग अलग स्थिति उपायमात्र होती है। इसका तात्पर्य यह है कि नाट्यरस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायारत सत्य के सदृश है।

इसके विपरीत प्रभाकरमिश्र द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त "अन्विताभिधानवाद" के अनुसार पदों के द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है अर्थात पहले पदार्थों का बोध होता है फिर उनके समुदाय रूप में वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी प्रकार नाट्यरस के अन्तर्गत अन्य सभी रसों की स्थिति पदार्थों के समान अंगभूत होती है और इनसे अङ्गीभूत प्रधानरस का बोध समुदाय रूप में होता है।

रसों की संख्या के विषय में भरत की मान्यता है कि नाट्य में आठ ही रस होते हैं किन्तु अभिनवगुप्त ने शान्तरस की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए नाट्य में नौ रसों की गणना की है।

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥ १६ ॥

महर्षि ब्रह्मा के द्वारा यह आठ रस कहे गए हैं। इसके पश्चात् अब मैं आप लोगों से स्थायी, संचारी तथा सात्त्विक भावों के विषय में बतलाऊँगा ॥ १६ ॥

भरत ने रसों का उल्लेख जिस विशिष्टक्रम में किया है उसके मनोवैज्ञानिक आधार को प्रकाशित करते हुए अभिनवगुप्त ने बड़ी सुन्दर व्याख्या दी है। तदनुसार शृंगाररस को भरत द्वारा सर्वोच्च स्थान देने का कारण यह कि वह सकलजाति-सामान्य, अर्थात् सभी प्राणियों में सुलभ व अत्यन्तपरिचित सा होता है तथा सबके लिए हृर्षद होता है (सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृदय-तेतिपूर्वंशृंगारः)।

शृंगार का अनुगामी होने से हास्य का द्वितीय स्थान रखा गया है (तदनुगामी च हास्यः)।

शृंगार से निरपेक्ष एवं हास्य के विपरीत होने के कारण करुण को तृतीय स्थान मिलता है (निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः)। करुण का निमित्तभूत अर्थात् करुण से उत्पन्न होने के कारण तथा अर्थ प्रधान होने से रौद्र रस का स्थान चतुर्थ माना गया है (ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। च चामर्षप्रधानः)।

इसके पश्चात् काम तथा अर्थ दोनों का धर्ममूलक होने के कारण धर्मप्रधान वीररस का स्थान आता है (ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद् वीरः। स हि धर्मप्रधानः)। वीर रस का उद्देश्य भयार्तजन को अभय देना है। अतः वीररस के बाद सप्तम स्थान में भयानक रस की गणना की जाती है (तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदनन्तरं भयानकः) भयानक एवं वीभत्स रस के विभावों की समानता होने की सम्भावना होने से भयानक के बाद वीभत्सरस का स्थान है (तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो वीभत्स इति)। वीरता के परिणामस्वरूप में आठवें स्थान पर अद्भुतरस को माना जाता है। (वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः। यद्वीरेणाक्षिप्तं फलमित्यन्तरं तदुपा-दानम्।) इस प्रकार यह आठों रस त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) से सम्बन्धित हैं और प्रवृत्तिधर्म हैं।

भरत द्वारा मान्य इन आठों रसों के अतिरिक्त अभिनव शान्तरस नामक नवें रस को भी मान्यता देते हैं। उन्हीं के शब्दों में नवम संख्यक शान्तरस निवृत्तिधर्मा होता है तथा उभयधर्मोपयोगी तथा मोक्षफलक होता है (निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः)। इस शान्तरस में आत्मनिष्ठ होकर रस का आस्वादन किया जाता है। इसका स्थायी भाव "निर्वेद" माना जाता है जो तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है।

आठ स्थायीभाव—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ १७ ॥

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मय यह आठ स्थायी भाव माने गए हैं[1] ॥ १७ ॥

तैंतीस संचारी भाव—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १८ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १९ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति,

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार कुछ लोग स्थायीभावों की नामगणना के पाठ में "जुगुप्सा विस्मयशमाः" इस प्रकार का पाठ करते हैं और इस प्रकार शम् को शान्त रस का स्थायी भाव मानते हैं। किन्तु अन्य कुछ विद्वान् उत्साह को एवं कतिपय विद्वान् जुगुप्सा को शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि सभी स्थायी भाव शान्त रस के स्थायी हो सकते हैं। अतः उसके लिए पृथक स्थायी भाव की कल्पना करना अनावश्यक है। इस विषय में अभिनवगुप्त की यह धारणा है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य (निर्वेद) ही इस शान्तरस का वास्तविक स्थायी भाव हैं (तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी)। यही कारण है कि निर्वेद में स्थायीभाव तथा व्यभिचारीभाव दोनों के धर्म रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शान्तरस में निर्वेद स्थायी भाव के रूप में रहता है एवं अन्य रसों में व्यभिचारी भाव के रूप में। यहीं कारण है कि अमंगलभूत होने पर भी व्यभिचारी भावों की गणना में सबसे पहले निर्वेद का पाठ किया गया है। तथा इसके लिए भरत ने स्थायी भावों की संख्या की गणना में संख्या का निर्देश नहीं किया है। यही स्थायीभाव अन्य रसों में व्यभिचारी भाव के रूप में भी प्रयुक्त किए जाते हैं।

(१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क—ये तैंतीस संचारी भाव कहे जाते हैं ॥ १८-२१ ॥

आठ सात्त्विकभाव—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २२ ॥

(१) स्तम्भ, (२)स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वरभंग, (५) कम्पन, (६) विवर्णता (७), अश्रु तथा (८) प्रलय—यह आठ सात्त्विक भाव[1] कहे जाते हैं ॥ २२ ॥

चार प्रकार के अभिनय—

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः ॥ २३ ॥

(१) आङ्गिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य[2] एवं (४) सात्त्विक—यह चार प्रकार के नाट्याश्रित अभिनय माने जाते हैं ॥ २३ ॥

दो प्रकार के धर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।

---

१. अभिनव के मत में सात्त्विक भाव व्यभिचारी भावों के तथा अभिनय दोनों के धर्मों से युक्त होते हैं। परन्तु अभिनय से सम्बन्धित होते हुए भी यह अभिनय से भिन्न होते हैं। अतः इसके नाम अलग से गिनाए गए हैं (सात्त्विका व्यभिचारिवृत्तमभिनयवृत्तं चोपजीवन्तीति पृथगभिनयादिभ्यो गणिताः)।

२. आहार्य अभिनय से तात्पर्य है धनुष मुकुटादि से प्रतिलक्षित अभिनय। अभिनवगुप्त का विचार है कि अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में आहार्य अभिनय की अन्तरंगता सूचित होती है (आहार्यस्यापि धनुः प्रतिशीर्षकमुकुटादेः प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगेऽन्तरंगत्वं सूचयति)। अभिनवगुप्त के मत में "नाट्यसंश्रया" पद से यह सूचित होता है कि लोक में तो सहज परिचित होने से चाहे आहार्य वेषभूषादि का अधिक उपयोग न भी हो किन्तु नाट्यप्रयोग में तो यह वेषभूषादि नाट्य के प्राण स्वरूप होते हैं। इसी कारण रस तथा भाव के पश्चात् अभिनय के विषय में कहा गया है।

धर्मी[1] के दो रूप माने गए हैं :—(१) लोकधर्मी तथा (२) नाट्यधर्मी।

चार प्रकार की वृत्तियाँ—

भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥ २४ ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्।

(१) भारती, (२) सात्त्वती, (३) कैशिकी और (४) आरभटी—यह उन चार वृत्तियों के नाम हैं जिन पर नाट्यप्रयोग आधारित होता है[2] ॥ २४-२५ ॥

पाँच प्रकार की प्रवृत्तियाँ—

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवौढ्रमागधी ॥ २५ ॥
पाञ्चालमध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः।

(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३) अर्धमागधी एवं (४) पाञ्चाली तथा (५) मध्यमा यह पाँच प्रकार की प्रवृत्तियां[3] होती हैं ॥ २५-२६ ॥

दो प्रकार की सिद्धियाँ—

दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥ २६ ॥

---

१. धर्मी का तात्पर्य है स्वभाव। दसवीं कारिका में भरत ने जिन ग्यारह नाट्यांगों का उल्लेख किया था उनमें चतुर्थ संख्या धर्मी की थी। तदनुसार १. रस २. भाव एवं ३. अभिनय के वर्णन के बाद धर्मी का निरूपण किया जा रहा है। लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी के भेद से यह द्विविध है। जैसा लोक में प्रचलित परम्परा है उसी के अनुसार यदि नाट्य में कार्य हो यथा पुरुष पुरुषवत् एवं स्त्री स्त्रीवत् आचरण करे तो उसे लोकधर्मी कहेंगे। किन्तु यदि लोक के विरुद्ध आचरण हो, अर्थात् ऐसा व्यापार हो जो नाट्य में ही संभव है यथा स्त्री का पुरूषवत् या पुरुष का स्त्रीवत् आचरण हो तो उसे नाट्यधर्मी कहा जाता है। धर्मी का विशेष विवरण नाट्यशास्त्र के आगामी अध्याय (१२.७०-७४) में दिया गया है।

२. अभिनवभारती का कथन है कि वृत्तियों का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से है। बिना अभिनेतव्य के अभिनय की संभावना नहीं है। दस प्रकार के रूपकों को विविध रूपों में प्रस्तुत करने के कारण वृत्तियों को रूपकों की उपकारक कहा जाता है (न चाभिनयोऽभिनेतव्यमन्तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण च तदुपकारिण्यो वृत्तयः)।

३. देश पर आधारित होने के कारण प्रवृत्तियों का कथन वृत्तियों के पश्चात् कहा गया है। (ता अपि देशवशाद् भूयसा भवन्तीति तदनन्तरं प्रवृत्तयः)।

(१) दैवी और (२) मानुषी दो प्रकार की सिद्धियाँ[1] होती हैं ॥ २६ ॥

सात स्वर तथा उनके दो वर्ग—

शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।
[निषादर्षभ - गान्धार-मध्य - पञ्चम - धैवताः ।]

षड्जादि सात स्वरों के शरीर तथा वैणव के भेद से दो वर्ग कहे गए हैं । (इन सात स्वरों के नाम हैं—१- निषाद, २- ऋषभ, ३- गान्धार, ४- मध्यम, ५- पंचम, ६- धैवत और ७- षड्ज)

चार प्रकार के वाद्य—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २७ ॥
चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

(१) तत (वीणादि की भाँति तारयुक्त) (२) अवनद्ध (मृदंगादिवत् मढ़े हुए) (३) घन तथा (४) सुषिर (बाँसुरी आदि के समान फूँके जाने वाले) यह चार प्रकार के आतोद्य[3] वाद्य माने जाते हैं ॥ २७-२८ ॥

चार प्रकार के वाद्यों के लक्षण—

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ॥ २८ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

तन्त्रीयुक्त (वीणादि को) तत् अवनद्ध (मढ़े हुए) वाद्य को पौष्कर, तालोप-

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार सभी प्रकार के अभिनयों का परिसमापन कार्य की सिद्धि में होता है । अतः द्विविध सिद्धियों का उल्लेख किया गया है । इसके विषय में ना० शा० अध्याय २७ में विस्तारपूर्वक कहा गया है ।

२- पाठ्य तथा गान में स्वरों का अन्तर्भाव हो जाने पर भी उन्हें पृथक् माना जाता है क्योंकि वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं (स्वराः पाठ्यगानसंगृहीता अपि पृथगुपात्ताः) नाट्य का सौन्दर्य केवल स्वरों से भी जाना जाता है जिसे अन्तरालाप कहते हैं (केवलानामपि प्रयोगोपरंजकत्वं यल्लक्ष्ये दृश्यते, यत्र अन्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमार्थम्) ।

३. "आतुद्यते इति आतोद्यम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार हाथ या वायु आदि से ताडित होने पर ध्वनि उत्पन्न करने के कारण इन वाद्यों की संज्ञा आतोद्य होती है । यों तो वाद्य असंख्य हैं, किन्तु लक्षणानुसार वाद्यों की यही चार श्रेणियाँ हैं । इस प्रकार लोक में प्रचलित मल्लक पट आदि बहुसंख्यक वाद्यों की गणना इन शास्त्रीय वाद्यों की श्रेणियों में नहीं की जाएगी ।

योगी व ठोंक कर बजाए जाने वाले वाद्य (मंजीरा आदि) को घन तथा फूँक कर बजाए जाने वाले वाद्य (बाँसुरी आदि) को सुषिर कहा जाता है ॥ २८-२९ ॥

पाँच प्रकार का ध्रुवागान—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ॥ २९ ॥
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ।

ध्रुवा[1] से युक्त गायन पाँच प्रकार का होता है [१] प्रवेशक[2] [२] आक्षेप[3], [३] निष्काम[4] [४] प्रसादिक तथा[5] [५] आन्तर[6] ॥ २९-३० ॥

त्रिविध रङ्गमण्डप —

चतुरश्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यश्रश्च कीर्तितः ॥ ३० ॥

रङ्गमण्डप के तीन रूप हैं—[१] चतुरस्र, [२] विकृष्ट एवं [३] त्र्यस्र ॥ ३० ॥

उपसंहार—

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो नाटचसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥ ३१ ॥

---

१. ध्रुवा कहते हैं गीत के आधारभूत निर्धारित पदसमूह को (ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः) । ध्रुवा से सम्बन्धित गायन विशिष्ट होने के कारण साधारण संगीत से भिन्न होता है ।

२. प्रवेशक—पात्रों के मञ्च पर प्रवेश के समय उनकी प्रकृति एवं भावादि का सूचक गायन ।

३. आक्षेप—प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करने वाला गायन ।

४. निष्काम—मञ्च से निष्क्रमण करते समय गाया जाने वाला गान ।

५. प्रासादिक—सामाजिकों के प्रति प्रविष्ट पात्र की आन्तरिक चित्तवृत्ति का सूचक गायन ।

६. आन्तर—प्रवेश एवं निष्क्रमण के अन्तराल में (गीत आदि के समय) गाया जाने वाला गान ।

तीन प्रकार का जन स्वभाव—

[उत्तमाधममध्या च प्रकृतिस्त्रिविधा स्मृता ।
बाह्याभ्यन्तरसम्भूतमुपचारद्वयं भवेत् ॥]

जन स्वभाव के तीन प्रकार होते हैं—[१] उत्तम, [२] अधम, [३] मध्यम । और द्विविध उपचार होते हैं:—[१] बाह्य एवं [२] आभ्यन्तर ।

इस प्रकार मैंने संक्षेप में नाट्य के ग्यारह अङ्गों का उल्लेख किया। अब मैं उनके सूत्रादि लक्षण तथा भाष्य आदि परीक्षण को कहूँगा ॥ ३१ ॥

रस निरूपण—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

सबसे पहले हम रसों की ही विशेष व्याख्या करेंगे; क्योंकि रस के बिना अन्य नाट्यांग रूप अर्थ की प्रवृत्ति नहीं होती (अतः सर्वप्रथम उसका ही निरूपण करना आवश्यक है[1])।

रस का लक्षण सूत्र—

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

उनमें विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति[2] होती है।

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार रस के विशेष विवरण के लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं—

१. रस के बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि में नहीं आ सकते (रसं विना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते)

२. रस के बिना नाटक में प्रीतिमय उपदेश नहीं मिल सकता जो कि नाटक का मुख्य प्रयोजन है। [तं विनार्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते]

३. जो सामाजिक रस का आदर करते हैं व उसकी प्रतीति में आनन्दानुभव करते हैं उसे रस से भिन्न भाव आदि अन्य अर्थ स्पष्टतः नहीं समझ में आता क्योंकि विभावानुभाव रूप समस्त अचेतन वर्ग की चित्तवृत्ति से उपकृत जो स्थायीभाव होता है उसी स्थायीभाव नाम की प्रधान चित्तवृत्ति के अन्तर्गत विभावादि वर्ग की प्रतीति होती है। रस के बिना भावादि की प्रतीति न हो सकने से नट तथा सामाजिक सभी के लिए समस्त नाट्याङ्गों में रस ही सबसे महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए सर्वप्रथम उसी का अभिधान किया गया है।

२. नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त यह निष्पत्ति शब्द अत्यधिक विवादास्पद है। मूलग्रन्थ में एतद्विषयक कोई सुनिश्चित व्याख्या न मिलने के कारण परवर्ती व्याख्याकारों यथा भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने रस सम्बन्धी

विभिन्न धारणाओं का प्रतिपादन किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी समालोचनात्मक व्याख्या अभिनवभारती में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का समीक्षण करते हुए रसविषयक अपनी प्रौढ़ एवं प्रबुद्ध मान्यता का प्रतिपादन अत्यन्त विश्लेषणात्मक रूप में किया है। अभिनवभारती के ही आधार पर रस विषयक उन धारणाओं का अध्ययन नीचे किया गया है—

भट्टलोल्लट का मत—

भट्टलोल्लट कृत व्याख्या के अनुसार रस सूत्र का तात्पर्य यह है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के साथ स्थायी भाव के संयोग से ही रस की उत्पत्ति होती हैं। इस प्रक्रिया में स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में विभाव कारण होते हैं। यहाँ अनुभाव से रसजन्य कटाक्षादि स्वरूप अनुभव का तात्पर्य नहीं है क्योंकि रस के कारणों में उनकी गणना न होकर भावों की गणना होती है। एवं जो व्यभिचारिभाव चित्तवृत्त्यात्मक होने के कारण यद्यपि स्थायीभाव के सहभावी नहीं हो सकते तब भी यहाँ रत्यादि स्थायीभाव के साथ व्यभिचारी भाव क्रमशः वासनात्मक तथा उद्बुद्ध रूप से रह सकते हैं। भरत ने रस के सम्बन्ध में जो दृष्टान्त दिया है उनमें भी नाना व्यञ्जन और मसालों से संस्कृत षाडव रस या पकवान् आदि के बीच में किसी की स्थायीभाव के समान वासनात्मक और किसी की व्यभिचारीभाव के समान उद्भूत रूप में स्थिति होती है। अतः विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किए गए स्थायीभाव को ही रस मानना चाहिए। यह परिपुष्ट स्थायीभाव अनुकार्य एवं अनुकार्य दोनों में रहता है। मुख्यरूप से वह अनुकार्य रामादि में तथा गौण रूप से रामादि का अनुकरण करने वाले नट में अनुसन्धान बल से रहता है।

भट्टलोल्लट ने, ऐसा लगता है कि सूत्र में आए हुए निष्पत्ति शब्द का अर्थ "उत्पत्ति" किया है। परन्तु लोल्लट के विवरण से यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति का यहाँ लाक्षणिक अर्थ है, नैयायिक का अभाव से भाव का उत्पत्तिरूप नहीं। क्योंकि जिस दृष्टान्त का विवेचन लोल्लट करते हैं उसमें सर्वत्र स्थायी भाव की वासनारूप से अवस्थिति मानी गयी है और इसी वासनात्मक स्थायी के परिपोष, उपचय अर्थात् घनीभूत और व्यक्तरूप को रस कहा गया है।

प्राचीन आचार्यों का यही मत है। इसी कारण काव्यादर्श नामक अलंकार ग्रंथ में रसवत् अलंकार का प्रतिपादन करते हुए दण्डी ने कहा है कि "रूप बाहुल्य (उपचय) के कारण रति (नामक स्थायीभाव) शृंगार (रस) बन जाता है" तथा "अधिकतम सीमा पर पहुँचकर क्रोध (नामक स्थायी भाव) रौद्ररस बन जाता है।" (काव्यादर्श २.२८१-२८३)

शंकुक का मत—

इस मत के प्रवर्तक श्री शंकुक हैं। उनके प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार विभावादि का योग हुए बिना स्थायीभाव का अनुमान करने वाला हेतु नहीं होगा। अतः स्थायीभाव की प्रतीति नहीं हो सकेगी। भरत को रस के पूर्व, न रस के बाद, भावों की चर्चा करनी पड़ती जबकि भरत ने रस के पहले (छठे अध्याय) और भावों की बाद में [सातवें अध्याय में] चर्चा की है तथा विभावादि के प्रयोग के पहले भी रस की स्थिति सिद्ध होती है। रस की पूर्व सिद्धि होने पर अन्य लक्षणों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती और यदि रत्यादि स्थायीभाव की मात्रा में न्यूनाधिक्य या तारतम्य को सम्भव मानें तो रस में मन्द, मन्दतर, मध्यम आदि अनेक भेद मानने पड़ेंगे। हास्यरस में स्थायी के तारतम्य से छः भेदों का विधान किया गया है। उनका भी अभाव मानना पड़ेगा, तथा यदि स्थायी के तारतम्य से रस भेद मानें तो काम की दस दशाओं के अगणित रस भाव मानने पड़ेंगे। शोकादि स्थायीभावों में आरम्भ में शोक अधिक होता है जो क्रमशः मन्द होता जाता है तथा क्रोध, उत्साह एवं रति आदि स्थायी भावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि पोषक सामग्री के अभाव में अवनति हो जाती है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि उपचय के स्थान पर अपचय रूपी विपर्यय के प्राप्त होने के कारण उपचित स्थायी भाव रस होता है।

अतः विभावादि हेतुओं तथा अनुभाव आदि कार्यों एवं निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रूप सहचारी के द्वारा [नट के अभ्यासादि] प्रयत्न से उत्पन्न होने के फलस्वरूप कृत्रिम होने पर भी अकृत्रिम प्रतीत होने वाले कारण, कार्य, सहकारी रूप विभावादि के कारण या चिह्न की सामर्थ्य द्वारा अनुकर्त्ता [नट] में वर्तमान रूप से अनुमान द्वारा ज्ञेय अनुकार्य राम में विद्यमान रहने वाला रत्यादि स्थायीभाव का ही इसमें अनुकरण स्वरूप होता है। स्थायी भाव का तद्रूप न होकर उसका अनुकरण रूप होने के कारण ही इसका दूसरा नाम 'रस' है।

विभावों का अनुसन्धान काव्य से, अनुभावों का शिक्षा से, एवं व्यभिचारी भावों की प्रतीति अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा होती है किन्तु स्थायीभाव का अनुसन्धान काव्य के अवगाहन से भी नहीं होता। नाट्य या काव्य में प्रयुक्त रति, शोक आदि शब्द रति एवं शोक आदि भावों का ही अभिधान करते हैं पर वाचिक अभिनय के रूप में उनकी प्रतीति नहीं कराते।

वाक् या शब्द के प्रयोग का ही नाम वाचिक अभिनय नहीं है अपितु उस वाक् के द्वारा किये जाने वाले अभिनय का नाम वाचिक अभिनय होता है, जैसे अङ्गों

से किए जाने वाले अभिनय का नाम आंगिक अभिनय होता है।

अभिनगुप्त ने एक श्लोक को उदाहृत करते हुए इस तथ्य को अच्छी तरह प्रकाशित किया है। श्लोक का अर्थ है—'जैसे अत्यन्त बड़े, अगाध व अनन्त समुद्र को भी वाडवाग्नि समाहित कर लेता है उसी प्रकार अत्यन्त प्रौढ़ शोक को भी क्रोध समाप्त कर देता है।' तथा शोक के कारण निश्चेष्ट एवं निरन्तर रुदन करते हुए इस राजा का हृदय विदीर्ण न हो जाए इसलिए मन्त्री उसकी रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं। 'इन दोनों उदाहरणों में शोक अभिनेय न होकर अभिधेय हैं। किन्तु नीचे जो उदाहरण दिया गया है—'चित्र रचना करते समय उसके जो अश्रुबिन्दु चित्र पर गिर पड़े वह ऐसे सुशोभित हो रहे हैं जैसे कि उसके हाथ के स्पर्श से शरीर पर स्वेद बिन्दु आ गए हों।' [रत्नावली २.११]

इस श्लोक में अभिधार्थ से भिन्न उदयन विषयक सुखात्मक रति स्थायीभाव का अभिनय अभिप्रेत है, मात्र कथन अभिप्रेत नहीं है। अभिधाशक्ति के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति अभिनय की है जिससे शब्द अपना अर्थ बोध कराता है। अतः अभिनय से स्थायीभाव का बोध होने से विभावानुभाव आदि के साथ सूत्र में स्थायीभाव का भिन्न विभक्ति में भी प्रयोग नहीं किया गया है। अर्थात् उपचित स्थायीभाव रस नहीं होता अपितु अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस होता है। इसीलिए अनुक्रियमाण रति ही श्रृंगार रस होती है। अतः वह स्थायीभावरूप एवं स्थायीभाव मूलक दोनों होती है [तेन रतिरनुक्रियमाणा श्रृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वञ्च युक्तम्]।

बौद्ध भी इस मत से सहमत दिखाई पड़ते हैं। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक [२.५७] में यह प्रतिपादित किया हैं कि—अर्थ का व्यक्त कराने वाली क्रिया मिथ्या ज्ञान से भी होना सम्भव है। उदाहरणस्वरूप—

मणि और दीप की ज्योति को मणि समझकर प्राप्त करने के लिए दो व्यक्तियों में ज्ञान और मिथ्याज्ञान के समान रहने पर भी उनमें अर्थक्रिया [फलप्राप्ति] को लेकर अन्तर हो जाता है। शंकुक का वक्तव्य है कि जब भ्रान्तज्ञान भी अर्थक्रियाकारी हो सकता है तो अनुकरण में रसबोध की क्षमता मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यहाँ पर ऐसी प्रतीति नहीं होती कि केवल नर्तक ही सुखी है और न यही प्रतीति है कि यही राम है, इसके अतिरिक्त यह प्रतीति भी नहीं होती है कि यह सुखी नहीं है अथवा यह राम है या नहीं है। साथ ही ऐसी प्रतीति भी नहीं होती कि यह उसके समान है अपितु सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य इन सभी प्रतीतियों से विलक्षण अश्व के चित्र में बने हुए ज्ञान की भांति जो सुखी राम है,

वह यह है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। शंकुक स्पष्ट कहते हैं कि रसानुभव-काल में होने वाला ज्ञान न तो सन्देह रूप है, न वास्तविक तत्त्व रूप, और न भ्रान्ति रूप है। वह यह है यह चेतना होती है न कि यह वही है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध ज्ञानों के सम्मिश्रण न होने के कारण विरुद्ध भावो के संप्लव या संकर से रहित इस विलक्षण रसानुभव, जो साक्षात् अनुभव का विषय है, का किसी भी युक्ति से खण्डन नहीं किया जा सकता।

आचार्य भट्टतौत के मत में यह मत तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि यदि रस को अनुकरण रूप माना जाए तो यह स्पष्ट नहीं होता कि ऐसा सामाजिक के [अ] अभिप्राय से कहा गया है या [ब] नट के अभिप्राय से अथवा [स] वस्तु तथ्य के विवेचक व्याख्याताओं के अभिप्राय से [द] अथवा भरतमुनि के अभिप्राय से।

आचार्य भट्टतौत के अनुसार इसमें पहला पक्ष असंगत है। क्योंकि जो किसी प्रमाण से गृहीत होता हो वही अनुकरण कहा जाता है। जैसे कि यदि कोई यह कहे कि 'वह इस भाँति सुरापान करता है और स्वयं दुग्धपान करे तो यहाँ प्रत्यक्ष-रूपेण दूध का पीना देखा जाता है। पर यहाँ अभिनय के अन्तर्गत रस के सन्दर्भ में नट में ऐसी कौन सी वस्तु है जो प्रमाण रूप में उपलब्ध होने के कारण अनुकार्य के अनुकरण रूप में प्रतीत होती है, यह विवेचनीय है। नट का शरीर, उसके मुख पर लगा हुआ प्रतिशीर्षक [मुखौटा] आदि अथवा रोमांच, गद्गद आदि अथवा भुजाक्षेप, अङ्गों का वर्तन आदि या भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि इत्यादि चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव के अनुकरणरूप में किसी को प्रतीत नहीं हो सकते। यहाँ नट का शरीर इत्यादि जड है और बाह्यपक्ष आदि इन्द्रियों के विषय हैं जब कि रति आदि स्थायी भाव जड़ नहीं हैं और अन्तःकरण के विषय हैं। इसी प्रकार मुखौटे आदि का अधिकरण शरीर है जबकि रति का अधिकरण मन है इस कारण स्थायी भाव और दृश्यमान सामग्री में बहुत अन्तर है। अतः ये स्थायी भाव के अनुकरण किसी भी तरह नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] का अवलोकन करने पर ही प्रतीत होता है कि अमुख्य मुख्य का अनु-करण है। किन्तु यहाँ रामगत रति, जो कि मुख्य अनुकार्य रूप है, उसका किसी सामाजिक ने पहले साक्षात्कार नही किया अतः नट राम का अनुकरण करता है यह मत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

यदि माना जाए कि नटगत चित्तवृत्ति ही प्रतीति का विषय बनकर या अगात होकर रति का अनुकरणरूप श्रृंगार रस है तो फिर प्रश्न उठता है कि उसकी प्रतीति किस रूप से होगी। यदि यह माना जाए कि विभाव, अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों के हेतुओं से विभावादि कारणों से कार्यरूप, अनुभावादि कार्यों से कारणरूप तथा

व्यभिचारि के सहकारी रूप से जो लौकिक चित्तवृत्ति साक्षात्कार को प्राप्त होती है उसी रूप में प्रेक्षक को नट की चित्तवृत्ति का प्रतिभान होता है और यही रत्यादि की प्रतीति रस है। ऐसा मानने पर रति रूप में ही उसका ग्रहण होगा न कि रति की अनुकृति के रूप में। इस प्रकार रति को अनुकरण रूप कहने वाली वचन भङ्गिमा टिक नहीं पाती।

पुनश्च, अनुकार्य में जो आलम्बन व उद्दीपन रूप विभाव होते हैं वे वास्तविक होते हैं किन्तु यहाँ प्रयोगकर्ता नट में वास्तविक नहीं हैं। यही दोनों में वैशिष्ट्य है। यदि ऐसा मान भी लें कि वे विभावादि उस नट गत रति के विभाव (कारण) अनुभाव (कार्य) तथा व्यभिचारिभाव (सहकारी) न होते हुए भी काव्य शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण परिकल्पित किए जाकर, कृत्रिम होने पर भी सामाजिकों के द्वारा विभावादि के रूप में उनका ग्रहण क्या कृत्रिम रूप में किया जाता है या नहीं। यदि उनका ग्रहण कृत्रिम रूप में होता है तो उन कृत्रिम साधनों से वास्तविक रति का ज्ञान होना असम्भव है।

यदि शंकुक की ओर से यह तर्क रखा जाए कि कृत्रिम साधनों से प्रतीयमान रति ही अनुकरणात्मक [रत्यादि की] वृद्धि का कारण होती है तो यह तर्क भी उपयुक्त नही है। जो कारण लोकविख्यात हैं उनसे भिन्न कारणों से उत्पन्न कार्यों में उनका ज्ञान होने पर उस विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति के द्वारा दूसरी वस्तु का प्रसिद्ध कारणों को छोड़कर सम्यक् अनुमान करना उचित हो सकता है। किन्तु साधारण पुरुष तो उसी प्रसिद्ध कारण का अनुमान करते हैं; जैसे कि विच्छू को देखकर उसके कारणरूप में गोबर का ही अनुमान किया जाता है। इससे भिन्न वृश्चिक रूप कारण के ज्ञान की संज्ञा मिथ्याज्ञान ही होगी।

जहाँ कहीं लिंग का मिथ्या ज्ञान होता है [तथा कोहरे में धुएं का] वहाँ भी साध्य के आभास रूप अन्य वस्तु का अनुभव मानना उचित नहीं है। क्योंकि कोहरे के धूमवत् प्रतीयमान होने पर भी धुएं का बिल्कुल अनुकरण सा लगने पर भी उससे अग्नि का अनुकरण करने वाली किसी अन्य कृत्रिम वस्तु का अनुमान करना उचित नहीं होगा। क्योंकि धूम के समान प्रतीत होने वाले कोहरे से अग्नि की भाँति प्रतीत होना उचित न होगा।

पूर्वपक्षी की शंका है कि अभिनेता यद्यपि क्रोधित नहीं होता किन्तु क्रोधित सा प्रतीत होता है। अतः रत्यादि के अनुकरण को रस मानना उपयुक्त है। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि यह ठीक है कि नट क्रोधित जैसा प्रतीत होता है। क्रोधित व्यक्ति के साथ यह सादृश्य भृकुटि

आदि के द्वारा परिलक्षित होता है, किन्तु यह ज्ञान उसी प्रकार का है जैसे गवय के साथ गाय का सादृश्य मुखादि के द्वारा होता है। किन्तु इससे अनुकरणात्मकता की तो सिद्धि नहीं होती। सामाजिक को राम के सादृश्य की तो वास्तव में प्रतीति ही नहीं होती और सामाजिक नट के केवल अनुभव आदि को ही ग्रहण नहीं करता है अपितु चित्तवृत्ति का भी ग्रहण करता है, अर्थात् नट के विषय में उसकी प्रतीति भावशून्य नहीं होती। अतः रस रत्यादि के अनुकरण का प्रतिभास है, यह कहना ठीक नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि नट को देख कर यह प्रतीति होती है कि "यह राम है" तो इस प्रतिपत्ति के उत्तरकाल में बाधक का अभाव होने से उसकी तात्त्विक प्रतीति माननी चाहिए और यदि बाधक है तो उसे मिथ्या ज्ञान मानना चाहिए। सच पूछिए तो बाधक का उदय हो या न हो, यह मिथ्या ज्ञान होगा क्योंकि रामोऽयम् के द्वारा संबद्ध व्यक्ति नट है, राम नहीं। इसे यों भी कह सकते हैं कि शंकुक जब सहानुभूति को अनुकरणात्मक मानते हैं तो इसका निहितार्थ यही है कि वह अवास्तविक है। अतः शंकुक का विरुद्धबुद्धिसंभेदात् रत्यादि कथन भी असंगत है। अन्य अभिनेता में भी राम होने का ज्ञान होता है। अतः यह सिद्ध होना है कि रामत्व एक सामान्य गुण है। जबकि अनुकरण हमेशा विशेष का होता है सामान्य का नहीं।

शंकुक का यह कथन कि "काव्य से विभावों का अनुसन्धान किया जाता है" भी ठीक से समझ में नहीं आता। क्योंकि किसी नट को आत्मीयतया ऐसा भान नहीं होता है कि "यह मेरी सीता है"। यदि ऐसा मानें कि काव्य के द्वारा विभावादि को सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाया जाता है और इसी कार्य को अनुसन्धान कहा जाता है तो यह अनुसन्धान विभावादि की अपेक्षा स्थायी भाव के सन्दर्भ में अधिक उचित होगा। क्योंकि इसी स्थायीभाव की प्रधानता के कारण सामाजिकों को यह प्रतिपत्ति होती है कि राम में यह रत्यादि स्थायीभाव है। अतः रत्यादि के अनुकरण को रस न मानना ही अधिक उचित है।

आचार्य शंकुक ने वाक् एवं वाचिक का भेद प्रदर्शित करते हुए अभिनय की विशेषज्ञता का जो परिचय दिया है उसकी विवेचना अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र के आगामी चौदहवें अध्याय में की है। अतः यह मानना ठीक नहीं है कि सामाजिक की प्रतीति के अनुसार "स्थायीभाव के अनुकरण को रस कहते हैं"।

नट को भी ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती कि मैं राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण कर रहा हूँ। यदि सदृशकरण की संज्ञा अनुकरण है तो जिसे मूल अनुकार्य का ज्ञान नहीं हुआ वह उसका अनुकरण कर ही नहीं सकता और यदि पश्चात्-

करण को अनुकरण माना जाए तो वैसी अनुकरणात्मकता लोक में अतिव्याप्त हो जाएगी क्योंकि लोक में वह रति राम आदि के बाद देखी जा रही है। अतः लौकिक रत्यादि को देखने पर भी रस की अनुरति मानी जाएगी।

यह मानने पर कि किसी खास व्यक्ति का अनुकरण न करके उत्तम प्रकृति का अनुकरण किया जाता है। अर्थात् नट द्वारा अपने शोक से उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण किया जाता है तो वह साध्य कौन सा है जिससे अनुकरण किया जाता है। यदि यह मानें कि जब नट शोक का अनुकरण करता है तो उसे वास्तव में शोक नहीं होता अपितु वह अश्रुपात आदि से शोक का अनुकरण करता है, तो अश्रुपात इत्यादि से शोक का अनुकरण संभव नही प्रतीत होता क्योंकि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, अश्रुपात इत्यादि अनुभाव और शोक रूप स्थायी भाव एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं।

अस्तु, इतना तो हो ही सकता है कि नट ऐसी कल्पना कर लेता हो कि "मैं आदर्श व्यक्ति के शोकगत अनुभावों का अनुकरण कर रहा हूँ" तो प्रश्न उठेगा कि कि किस आदर्श व्यक्ति का नट अनुकरण कर रहा है। जिस किसी के भी शोक का अनुकरण मानना ठीक नहीं क्योंकि विशिष्ट स्वरूप के बिना उसे बुद्धि में बैठाना सम्भव नहीं होगा। जो मेरो (नट की) भाँति रुदन करता है उसका मैं अनुकरण करता हूँ। 'ऐसा मानना व्यर्थ है क्योंकि अनुकार्य की प्रतीति में नट का अपना स्वरूप भी समाविष्ट हो जाने से अनुकार्य और अनुकर्ता का भाव विगलित हो जाता है।

नट शिक्षावश और अपने विभावों की स्मृति के कारण चित्तवृत्ति के साधारणी-भाव के द्वारा होने वाले हृदय के सम्वाद से केवल अनुभावों को प्रदर्शित करते हुए उचित काकुध्वनि से काव्य पाठ करते हुए तदनुरूप चेष्टा करता है—शंकुक का यह कथन सिर्फ उतने मात्र की प्रतीति कराता है न कि किसी प्रकार के अनुकरण का ज्ञान। क्योंकि स्त्री के वेष के अनुकरण की भाँति राम के व्यापारों का अनुकरण नहीं हो सकता, यह हमने पहले अध्याय में ही प्रदर्शित किया है।

वस्तुवृत्त के अनुसार भी उन स्थायीभावों का अनुकरण नहीं हो सकता क्योंकि जो स्थायीभाव बाद में प्रतीत होते हैं उनका वस्तुवृत्तत्व (अर्थात् वास्तविक घटि-तता) कैसे सिद्ध होगा? वास्तविक वस्तुवृत्तत्व की व्याख्या आगे अपने सिद्धान्त निरूपण के प्रसङ्ग में की जाएगी।

भरत मुनि ने भी कहीं पर ऐसा नहीं कहा कि रस स्थायीभाव का अनुकरण है। भरतमुनि ने ऐसा कोई संकेत भी नहीं दिया जिससे स्थायी भाव के अनुकरण

को रस माना जा सके। इसकी अपेक्षा अभिनय की परिपुष्टता के निमित्त ध्रुवा, गान, तालवैचित्र्य और लास्यांगों का निरूपण विपरीत पक्ष का समर्थक प्रतीत होता है क्योंकि लौकिक जीवन की किसी बात का वे अनुकरण नहीं करते हैं। नाट्य-शास्त्र के सन्ध्यङ्गाध्याय (१९ वें अध्याय के अन्त) में अपनी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने इस बात को विस्तार से समझाया है। प्रथम अध्याय में नाट्य को जो सप्तद्वीप का अनुकरण (सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति) बताया गया है उसे स्थायीभाव के अनुकरणरूप न मानकर दूसरे ढंग से (अर्थात् अनुकीर्तन अनुव्यवसाय के रूप में) भी समझा जा सकता है और अब यदि स्थायीभाव का अनुकरण मान भी लिया जाए तो कान्ता आदि के वेश अथवा गति के अनुकरण की भाँति 'रस' इस दूसरे नाम की क्या आवश्यकता रहेगी।

और जो यह कहा जाए कि जैसे चित्र में हरिताल आदि रगों को तूलिका से मिलाने से (संयुज्यमान:) गौ आदि की प्रतीति होती है। उसी भाँति विभावादि को मिलाकर रस की अभिव्यक्ति हो जाती है तथा उसका नाम भी विभा-वादि से भिन्न 'रस' हो जाता है। यहाँ संयुज्यमान का अर्थ अभिव्यज्यमान मानना उचित नहीं है। दीपक के आलोक में जैसे वास्तविक गौ व्यक्त होती है वैसी सिंदुरादि रङ्गों से नहीं होती, अपितु गौ के सदृश अङ्गों की रचना स्पष्ट होती है। गौ के अङ्गों के सन्निवेश के समान सन्निवेशविशेष रूप में सिन्दुरादि स्थित होकर यह भान कराते हैं कि यह आकृति गौ सदृश है। किन्तु इस प्रकार विभावादि समूह रति के समान (सदृश) हैं। यह बोध किसी भी ज्ञान से नहीं होता है। क्योंकि काव्यात्मकवर्णना, जो एक तरह से अनुभाव या भौतिक उपकरण सामग्री का काम करती हे। रति, शोक जैसी मानस वृत्ति, जो कि वस्तुत: अपनी प्रकृति में आध्यात्मिक है, का अनुकरण नहीं कर सकती। अत: रत्यादि स्थायीभावों के अनुकरण को रस मानने वाला यह मत युक्तियुक्त नहीं है।

जिन लोगों ने भरत के 'सुखप्रायेषु सम्पन्न: (६.४६) श्लोक को ठीक से नहीं समझा है उनका कहना है कि रस, जो सुखदु:खात्मक होता है, विषय सामग्री का बाह्य संघात मात्र है जिसमें सुख-दु:ख उत्पन्न करने की क्षमता है। यह मत सांख्य से मिलता है। सांख्य की दृष्टि में संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख-दु:ख एवं मोहस्वभाव वाला माना जाएगा। तथा इस सामग्री में विभाव दाल के स्थानीय हैं तथा अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव छौंक के सदृश हैं। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि मामग्री से उत्पन्न आन्तरिक शोक या मोहादि स्थायीभाव हैं। इससे रस और स्थायी भाव के पारमार्थिक भेद का अपलाप हो

जाता है और इस मत के पोषकों को भरत के कथन 'स्थायिभावों को रसना तक ले जायेंगे' ('स्थायिभाववान् रसत्वम् उपनेष्याम:' ना० शा० छठा अध्याय) में लक्षणा माननी पड़ती है। कठिनाई यह है कि स्थायी की प्रतीति भिन्न है और रस की भिन्न। स्थायी और रस यदि एक हैं। उनमें केवल औपचारिक भेद है तो रस और स्थायी के प्रतीति वैषम्य को वे लोग कैसे समझायेंगे।

भट्टनायक का मत

भरत के रस सूत्र की व्याख्या सहृदयदर्पण के रचयिता भट्टनायक नामक एक अन्य व्याख्याकार ने भी की है। इनका मत मुख्यत: वेदान्त और योग की कतिपय दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित हैं। उनके मत में रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न और न अभिव्यक्त। सामाजिक द्वारा अपने में रस की प्रतीति मानने पर करुण रस के अनुभव काल में सामाजिक को दु:ख की प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसी स्थिति असंगत होगी। शोक की कारणभूत सीतारूपी विभाव के अनुपस्थित रहने से, अपनी पत्नी आदि की नाट्य प्रसंग में स्मृति न होने से, जब देवतादि विभाव हों तो उनमें साधारणीकरण के अयोग्य होने से तथा हनुमानादि विभावों द्वारा समुद्र लङ्घनादि के समान किये गए कार्यों का साधारणीकरण असम्भव होने से सामाजिक को स्वगत रूप में रस की प्रतीति नहीं होती। रसप्रतीति को यदि परगत अर्थात् सामाजिक से भिन्न किसी अन्य में परिनिष्ठित माना जाए तो सामाजिक उदासीन हो जायेगा।

किसी भी नाट्यप्रयोग का आस्वादन करते हुए रत्यादि से युक्त राम का स्मरण सम्भव नहीं है क्योंकि उसका पहले ज्ञान नहीं हुआ है। शब्द और अनुमान आदि प्रमाणों से भी उसकी प्रतीति मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में, यदि रस शब्द या अनुमान से उत्पन्न हो सके तो, संसार में लौकिकप्रत्यक्ष से रसानुभव मानना उचित होगा, जब कि लौकिक अनुभव में ऐसा देखने को नहीं मिलता, उल्टे प्रत्यक्ष रूप में, रत्यादि में रत नायक नायिका को देखने पर रस के स्थान पर रसिक की अपनी मन:स्थिति और अवस्था के लज्जा या जुगुप्सा आदि वृत्तियों के उदय होने से मन की तन्मयता भङ्ग होगी फलत: रसबोध की संभावना दुष्कर हो जायगी। अत: अनुभव या स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति मानना तर्क संगत नहीं है।

यही सब दोष तब भी आयेंगे जब जब रस की प्रतीति को उत्पत्तिरूप माना जाए। इसी प्रकार रस की प्रतीति को यदि अभिव्यक्तिरूप माना जाए तो इसका सीधा सा अर्थ होगा कि शक्तितया या बीजतया पहले से अवस्थित पदार्थ की अभिव्यक्ति। ऐसी अवस्था में रसार्जन में तारतम्य मानना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में

हम शंकुक की मन्दतर, मन्दतम, मध्यस्थ आदि अनन्त स्थितियों की आपत्ति का पुनरभिधान कर रहे हैं। रसानुभूति को चाहे प्रतीतिरूप माना जाए, चाहे उत्पत्तिरूप और चाहे अभिव्यक्तिरूप, उसे स्वगत अथवा परगत मानने पर सभी स्थितियों में ऊपर वाले दोष समान रूप से आ खड़े होंगे। अर्थात् स्वगत मानने पर करुण रस के अनुभव काल में सामाजिक दुःखी और परगत मानने पर तटस्थ अथवा उदासीन ही रहेगा।

इस कारण से काव्य में दोष शून्यता तथा गुणालङ्कार की उपस्थिति एवं नाटक में चतुर्विध अभिनय के माध्यम से शब्दों द्वारा अर्जित एक विशेष सामर्थ्य जिसे भावकत्व व्यापार कहा गया है और जो अभिधा से भिन्न उसका दूसरा अंश है, के द्वारा रस का भावन (विषयान्तर-परिहारपूर्वक चित्र में बार-बार निवेशन) किया जाता है। इस भावकत्व व्यापार के दो कृत्य हैं एक तो अपनी चेतना को ढँक लेने वाले घनीभूत मोह, जो रसानुभव में एक प्रकार का बाधक है, का निवारण और दूसरे विभावादि का साधारणीकरण। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा भावित किया जाता हुआ रस स्मृति, अनुभव एवं प्रतीति आदि से विलक्षण भोग—जो सहृदय के विशिष्ट सामर्थ्य का प्रतीक है—के द्वारा भोगा जाता है। सहृदयगत यह भोग या भुक्ति सामाजिक की वह विशिष्ट मनःस्थिति है जिसका रजस् और तमस् अभिनिवेशवैचित्र्य के कारण पर्यायशः द्रुति, विस्तार या विकास के रूप में उन्मेष होता है और जो सत्त्व के उद्रेक के बल से प्रकाश और तज्जन्य आनन्द से युक्त आत्मसंवित् में एक प्रकार की विश्रान्ति है। इस भुक्ति की तुलना परब्रह्म के आस्वादन से ही सम्भव है। यदि लोचनकार के शब्दों में कहा जाए तो भट्टनायक तीन प्रकार के व्यापारों का आश्रय लेकर रसभुक्तिता का विवेचन करते हैं जिनमें अभिधा का सम्बन्ध है वाच्य से, भावना का सम्बन्ध है रस से और भोगीकरण का सम्बन्ध है सहृदय से।

अभिनवगुप्त के विचार से भट्टनायक चूंकि भट्टलोल्लट का खण्डन करते हैं। इसीलिए वह मान्य है, ऐसा नहीं है। भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष तो उठ ही नहीं पाता। अतः उसमें दोष दिखाने की आवश्यकता रह नहीं जाती। फिर भी भट्टनायक जब यह कहते हैं कि रस की प्रतीति में ही भोग होता है तो प्रतीति इत्यादि से भिन्न संसार में और भी कोई भोग होता है, यह हमें नहीं मालूम। भुक्ति को यदि रसना या (या आस्वादन) रूप माना जाए तो वह भी एक प्रकार की प्रतीति ही है। केवल साधन को विलक्षणता (विभाव इत्यादि) को देखते हुए उसका नाम बदल दिया गया जान पड़ता है—जैसे साधनभेद से होने वाली प्रमा को हम दर्शन, अनुमिति, श्रुति और उपमिति इत्यादि कह बैठते हैं। निष्पत्ति

अर्थात् उत्पत्ति और अभिव्यक्ति इन दोनों को न मानने पर रस को या तो असत् होना पड़ेगा या नित्य। इसके अलावा उसकी तीसरी गति तो हो नहीं सकती और जिसकी प्रतीति न होती हो ऐसी कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती। (इसके विपरीत रस का तो हमें व्यवहार में अनुभव होता है।)

यदि यह कहा जाए कि रस की प्रतीति का अर्थ है भोगीकरण और उसका स्वरूप है द्रुति या विस्तार या विकास, जिसे रसना का नाम दिया जाता है। तो भी इतने ही से कुछ नहीं होता। जितने रस हैं उतने ही रसनामयी प्रतीतियाँ हैं जिनका स्वभाव भोगीकरण है। उनमें भी सत्त्व, रजस्, तमस् के अभिनिवेश-वैचित्र्य के फलस्वरूप उनके पारस्परिक अङ्गाङ्गिभेद के आधार पर अनन्त भेदों की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः तीन भेदों से ही (द्रुति, विस्तार, विकास) सीमा बाँधने से क्या लाभ ?

संक्षेप में भट्टनायक की मान्यता है कि अभिधा, भावना एवं भोगीकृतिरूप काव्यगत तीन व्यापार माने गये हैं। अभिधा के द्वारा शब्दार्थ और अलंकार पहले वाच्यरूप में उपस्थित होते हैं, इसके पश्चात् भावना व्यापार से साधारणीकरण द्वारा जो काव्यार्थ भावित किया जाता है उसका सहृदय सामाजिक भोगीकरण के रूप में आस्वादन करता है।

अभिनवगुप्त का मन्तव्य है कि भट्टनायक भी प्रकारान्तर से ध्वनि के माध्यम से अभिव्यक्त संवेदनात्मक रस के ही पक्षधर हैं जो कि अभिनवगुप्त का अपना सिद्धान्त है। इसीलिए उनकी दृष्टि में भरतमुनि जब यह कहते हैं कि काव्य से रस भावित होते हैं तो यहाँ पर भावन का अर्थ यदि भट्टनायक विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति का विषय बन पाने से लेते हैं तो अभिनव-गुप्त को कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि स्वयं भट्टनायक ने अन्यत्र स्पष्ट कहा है कि "दूसरे की प्रतीति का विषय बनता हुआ आस्वादनात्मक अनुभवरूप रस ही काव्यार्थ कहा जाता है जिसका एक नाम संवेदन भी है।" यहाँ पर व्यङ्ग्य शब्द से रस की व्यज्यमानता लक्षित होती है और अनुभव शब्द से उसके विषय का पता चलता है।

इस प्रकार रस वस्तुतः क्या है इसकी गवेषणा करने अभिनवगुप्त निकल पड़ते हैं।

अभिनवगुप्त का मत

रस की व्याख्या—रस के वास्तविक एवं परिशुद्ध रूप की परिचर्चा करते हुए अभिनवगुप्त का मत है कि स्वयं भरत के अनुसार रस कोई नई या अपूर्व वस्तु नहीं है

[न त्वपूर्वं किञ्चित्]। सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में भरत कहते हैं कि भावों का काम है काव्यार्थों का भावन करना। यही काव्यार्थ रस है। जैसे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में आए हुए स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्यों (जैसे 'वनस्पतियाँ रात भर रहीं' या 'प्रजापति ने अपनी चर्बी की अग्नि में आहुति दी' इत्यादि) में सुनते ही अधिकारी (किसी अर्थिता या आकांक्षा से जो याग पें प्रवृत्त हुआ है) व्यक्ति को सामने की क्रिया में अत्यन्त रुचि के कारण पहले तो सामान्य अभिधेयार्थ की ही प्रतीति होती है, पर उसके ठीक बाद उपात्तकाल (भूतकाल) के तिरस्कार द्वारा 'बैठूँ', 'आहूति दूँ' (वर्तमान काल) इस प्रकार की प्रतीति होती है जो अर्थसंक्रमणरूपा है। इसी को भिन्न-भिन्न दर्शनों में प्रतिभा (वेदान्ती, प्रत्यभिज्ञावादी) भावना (कौमारिल), विधि या नियोग (प्रभाकर) जैसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। ठीक इसी प्रकार काव्यात्मक शब्द से भी अधिकारी व्यक्ति को साधारण वाक्यार्थबोध से अतिरिक्त प्रतीति या बोध होता है।

यहाँ पर काव्य के क्षेत्र में अधिकारी है विमल प्रतिभा से युक्त हृदय वाला व्यक्ति अर्थात् सहृदय। ऐसे व्यक्ति में "यह सामने हिरन कितनी सुन्दरता से अपनी ग्रीवा मोड़कर देख रहा है" (अभि० शाकु० १.२), "नील अलकों में लगे कर्णिकार पुष्पों को गिराती उमा (कुमार. ३.६२) और "शिव कुछ" (कुमार० ३.६७) इन वाक्यों से वाक्यार्थबोध के मानस साक्षात्कार के समान एक ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है जिसमें उन वाक्यों द्वारा लाए गए देश, काल इत्यादि का पूर्णतः उन्मूलन होता हैं। इस प्रतीति में जो मृग का छौना भासित होता है उसका कोई विशेष या निजीरूप न होने के कारण केवल "डरा हुआ" और फिर सामाजिक को डराने वाले मृग के वास्तविक न होने के कारण (क्योंकि यहाँ मृग तो अभिनेतामात्र है) देश और काल से पूरी तरह से अनालिङ्गित केवल भय की ही प्रतीति होती है। भय का यह प्रत्यक्ष भय के साधारण प्रत्ययों (जैसे मैं डरा हुआ हूँ, यह शत्रु, मित्र, उदासीन—डरा हुआ है) से विलक्षण है क्योंकि वे सुख-दुःख के द्वारा उत्पन्न ग्रहण और त्यागरूप दूसरी प्रतीतियों के नियमतः उदय के कारण विघ्नों से भरे हुए हैं, जब कि यह भय निर्विघ्न प्रतीति का विषय बनता हुआ साक्षात् हृदय में घुसता हुआ सा आँखों के सामने नाचता हुआ सा भयानक रस ही है। इस प्रकार के भय में सामाजिक की आत्मा न तो पूर्ण तौर पर तिरस्कृत रहती है और न ही विशेष रूप से उद्रिक्त। और न 'पर' अर्थात् अभिनीयमान पात्र या नट न तो पूर्णतः पृष्ठभूमि में रहता है और न चेतना पर अच्छी तरह से छाया रहता है।

फलतः भय की यह साधारण या सामान्य अवस्था (साधारण्य) सीमित नहीं है

बल्कि व्यापक है—वैसे ही जैसा कि धुआँ और आग। सच पूछिए तो भय और कम्प, व्याप्ति ग्रहण के समय होता है। अन्तर यही है कि यहाँ पर इसकी (भय की) साक्षात्कारकल्पता का पोषण नटादि सामग्री के द्वारा होता है (रसानुभव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अभाव में साक्षात्कार रूप नहीं है। फिर भी वह साक्षात्कार जैसा होता है। अतः साक्षात्कारात्मकता का अंश नटादि सामग्री से आता है)। इस नटादि सामग्री में वास्तविक और काव्यार्पित दोनों प्रकार के देश, काल, प्रमाता रूप नियमन के हेतुओं का एक दूसरे के अत्यन्त प्रतिबन्धक या प्रतिरोधक होने के कारण अन्ततः उनका उन्मूलन हो जाने पर वही साधरणीभूत भाव ही नितान्त पुष्ट हो पाता है। इसीलिए सभी सामाजिकों की एकघनतया प्रतीति रस का और भी परिपोषण करती है; क्योंकि अनादि वासना के द्वारा सबमें वासनागत मैत्री या संवाद (पारस्परिक समकोटिक औन्मुख्य) तो रहता ही है। इस विघ्नरहित प्रतीति को चमत्कार कहते हैं और इससे उत्पन्न कम्प, पुलक, शरीर का साह्लाद हिलना इत्यादि विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। उदाहरण के लिए इस प्राकृत गाथा को देखा जा सकता है "आज भी विष्णु चमत्कृत हैं कि समुद्रमन्थन के समय चन्द्रकला की कान्ति वाले लक्ष्मी के कोमल अवयव मेरुपर्वत से पिच क्यों नहीं गए?" इसी प्रकार चमत्कार उस प्रकार के भोग में पूर्ण मज्जन (भोगावेश) का नाम भी है जिसकी तृप्ति कभी समाप्त नहीं होती और इस कारण से जिसका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहता है। चमत्कार का वास्तविक अर्थ है भोगते हुए—अर्थात् अद्भुत आनन्द की क्रिया में सराबोर व्यक्ति की क्रिया (शाब्दिक तौर पर भोजन से पूर्ण तृप्ति होने पर चटखारी लेने का नाम है 'चमत्'-कार)। यह साक्षात्कारात्मक मानसिक अध्यवसाय या इच्छा या साक्षात्कारमयी स्मृति के रूप में उभर सकता है। क्योंकि, जैसा कि कालिदास ने कहा है, "एक प्राणी सुखी होने पर बहुधा रम्य पदार्थों को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर कुछ उत्कंठित (उतावला) सा हो उठता है। उस समय निश्चय ही, पहले से न जानने के कारण, वह मन से पूर्वजन्म के उन संपर्कों का स्मरण करता है जो वासना रूप से उसके अवचेतन में आकर जम गए हैं (शाकु. ५)' 'यहाँ पर स्मरण करता है (स्मरतीति) पद से जो स्मृति दिखाई गई है वह तार्किकों या नैयायिकों द्वारा अभ्युद्गत स्मृति से भिन्न है क्योंकि स्मृति के लिए पदार्थ का पूर्व अनुभव आवश्यक है और यहाँ पर उस पदार्थ का पूर्व अनुभव हुआ नहीं है। अपितु अपनी प्रकृति में यह एक प्रकार का साक्षात्कार है। जिसका दूसरा नाम प्रतिभान (या प्रातिभ दर्शन) है। क्योंकि यह प्रतीति निरन्तर आस्वादात्मक प्रतीति है जिसमें रति ही (या अन्य कोई स्थायी भाव) भान होती है।

इसीलिए किसी भी दूसरे विशेष से असंपृक्त (अनुपहित) रहने के कारण वह रसना अर्थात् अस्वाद का विषय बनती हुई न तो लौकिक प्रतीति है, न मिथ्या है, न अनिर्वचनीय, न किसी लौकिक प्रतीति के समान है और न ही किसी का आरोपण रूप। कहने के लिए (लोल्लट के मत से) वह उपचय रूप अवस्था हो सकती हैं क्योंकि देश और काल के नियंत्रण से वह मुक्त है; वह अनुकरणरूप भी हो सकती है क्योंकि भावों का अनुगामिरूप से पुनर्प्रस्तुतीकरण होता है। विज्ञानवाद का सहारा लेकर (प्रवृत्ति और आलयविज्ञान की मौलिक एकता के कारण ?—अभिनवभारती का यह अंश अस्पष्ट है) यह भिन्न घटकों का संघात या विषय-सामग्री भी कही जा सकती है। चाहे जिस दृष्टि से देखें, हर तरह रसनामयी विघ्नरहित प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।

यहाँ विघ्न को दूर करने वाले हैं विभाव, अनुभाव इत्यादि। लौकिक व्यवहार में भी सारे विघ्नों से मुक्त चेतना ही चत्मकार, निर्वेश, रसना, आस्वादन, भोग समापत्ति, लय और विश्रान्ति इत्यादि शब्दों से पुकारी जाती है। इस प्रत्यक्ष प्रतीति में सात प्रकार के विघ्न हैं—(१) सम्भावना के अभाव के कारण ज्ञान के विषय रूप में पदार्थ की अयोग्यता, (२) नियमतः आत्मसंबद्ध या पर-संबद्ध रूप से प्रतीत होने वाले देश विशेष और कालविशेष में लीन होना, [३] अपने सुख दुःख के वश में होना, [४] प्रतीति के उपाय में दोष का होना, [५] स्फुटता या प्रामाणिकता का अभाव, [६] किसी प्रधानतत्व का अभाव और [७] संदेह का उपस्थित होना। इन्हें हम अब क्रम से लेते हैं—

[१] संवेद्य को संभव न मानता हुआ जो संवेद्य में ही अपनी मति को ठीक से नहीं बैठा पाता, वहाँ कैसे टिकेगा—यह पहला विघ्न है। इसको हटाने का उपाय है संसार की सामान्य वस्तुओं के सम्बन्ध में होने वाला हृदयसंवाद ; और जब असाधारण घटनाओं का चित्रण करना होता है, तब उपाय है रामादि नामक प्रख्यात चरित्रों का आश्रयण, जिनका नाम ही चिरन्तन काल से चली आती हुई अविच्छिन्न कीर्ति से उत्पन्न हमारी चेतना में [अर्थात् हमारे सांस्कृतिक अवचेतन में] गहरे पैठे विश्वास को उभारने में समर्थ है। यही कारण है कि अलौकसामान्य व्यक्ति के उत्कर्ष के विषय में ज्ञान करना [व्युत्पत्ति] और शिक्षा देना [उपदेश] जिनके दो प्रयोजन हैं—ऐसे नाटक [और महाकाव्य] इत्यादि को लेकर [आगे आठवें अध्याय में] यह नियमपूर्वक विधान किया जाएगा कि इनकी विषयवस्तु प्रख्यात होनी चाहिए। प्रहसनादि में ऐसा नहीं होता। यह बात अपने मौके पर कही जाएगी, अतः इस विषय में यहीं रुकना ठीक रहेगा।

[२] एक प्रधान विघ्न जो नियमतः घटित होता है वह है सामाजिक के द्वारा एकमात्र अपने में रहने वाली (स्वगत) सुख और दुःख की चेतनाओं के आस्वादन में मुख्य संवेदन से भिन्न दूसरे संवेदन का उदय। होता यह है कि यथा संभव सामाजिक के इस भय से कि सुख की अनुभूति कहीं बीत न जाए या इस व्यग्रता से कि ये सुख की अनुभूति बनी रहें, या इस इच्छा से कि सुख की ऐसी अनुभूतियाँ और भी होती रहें, या इस कामना से कि यह दुःख की अनुभूति छोड दूँ या इसको पूरी तरह से कह सकूँ या छिपा सकूँ या अन्य किसी प्रकार से एक दूसरे संवेदन का उद्गम ही बड़ा भारी विघ्न बन जाता है।

इसी प्रकार दूसरे में रहने वाले (परगत) सुख, दुःख, की संवेदना होने पर सामाजिक के मन में नियमतः सुख, दुःख, मोह और उदासीनता रूप [मुख्य संवेदन से भिन्न] अन्य संवेदनों के उदय की संभावना से अनिवार्यतः विघ्न पैदा हो जाता है। इस विघ्न को दूर करने का उपाय है भाषागत भेद, (नर्तकियों के) लास्य के अङ्ग, रंगपीठ, मण्डप में पायी जाने वाली, कक्ष्या रूप लोक में अप्राप्य नाट्यधर्मियों के ग्रहणपूर्वक मुखौटे;प्रसाधन इत्यादि के प्रयोग के द्वारा नट का अपने स्वरूप को छिपाने के भिन्न प्रकारों का आश्रयण। यह बात दर्शकों को पूर्वरङ्ग में [देखिए ना. शा. ५.१६५-६६ "पूर्वरङ्ग को बहुत फैलाना नहीं चाहिए"] और प्रस्तावना के समय [देखिए ना. शा.–'नटी या विदूषक" इत्यादि] ही स्पष्ट हो जाती है। उपर्युक्त तत्त्वों की उपस्थिति में इस प्रकार की प्रतीति नहीं होने पाती—इसी का, यहीं, पर इस समय सुख या दुःख है—क्योंकि एक ओर नट के वास्तविक स्वरूप का गोपन होता है और दूसरी ओर आरोपित चरित्र में सामाजिक की चेतना के पूरी तौर पर टिक न पाने के कारण [राम आदि आरोपित चरित्र के) वास्तविक रूप में सामाजिक की चेतना विश्रान्त नहीं हो पाती। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि यहाँ पर दोनों के वास्तविक स्वरूप का गोपन होता है—नट का और नट द्वारा अभिनीयमान चरित्र का। यद्यपि अभिनीयमान चरित्र नट और अनुकार्य दोनों का गोपन करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह है ही नहीं; क्योंकि उसका अस्तित्व सामाजिक की चेतना का एक तथ्य, एक प्रदत्त है। जैसे कि यह कहना सही है कि आसीन पाठ्य, पुष्पगंडिका जैसे लास्य के प्रकार सामान्यतः संसार में नहीं देखे जाते किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी किसी भी प्रकार से सत्ता नहीं है; क्योंकि किसी न किसी रूप में उनकी संभावना है। बात यह है कि मुनि ने संबद्ध और प्रासंगिक सामग्री का यह जमावड़ा साधारणीभाव की सिद्धि द्वारा रसचवर्णा में उपयोगी के रूप में किया है। इसलिए लास्य इत्यादि का रहस्य भी

वहीं पर [१९वें अध्याय में] स्पष्ट होगा । अतः इस समय इस दिशा में हमें प्रयास नहीं करना चाहिए । यहाँ तो हमने अपने में या दूसरे में नियतरूप से रहने वाले देश, काल इत्यादि के प्रतीति रूप विघ्न के निराकरण के उपाय का प्रतिपादन किया है ।

३. जो अपने ही सुख या दुःख के वशीभूत है वह दूसरी वस्तु में चित्त कैसे लगा पाएगा । अतः इस विघ्न के निवारण के लिए उचित समय और अवसरों पर प्रयोग के लिए गेय और वाद्य संगीत, सुसज्जित मण्डप, विदग्धगणिका रूप उपायों का आश्रय लिया गया है। ऊपर वर्णित साधारण्य की महिमा से शब्दादि विषय वाले ये सारे पदार्थ ऐसे हैं जो सारे प्रमाताओं के द्वारा भोगे जाने योग्य हैं और इस प्रकार से [सारी वस्तु स्थिति] को रंग देते हैं [उपरंजन] कि साधारणतः हृदयहीन प्रमाता भी सहृदय बन जाता है । शब्द और रूप विषयों की इस उपरंजकता की दृष्टि से ही काव्य को 'दृश्य या श्रव्य' [ना० शा० १.११] कहा गया है । और क्या, अगर प्रतीति के साधनों का ही अभाव है तो मानी हुई बात है कि प्रतीति का भी अभाव रहेगा ।

५. [शाब्दबोध या अनुमान जैसी] अस्फुट प्रतीति के जनक शब्द या हेतु के होने पर भी बुद्धि पूरी तरह से उन पर टिक नहीं पाती; क्योंकि स्फुट प्रतीति रूप प्रत्यक्ष के अनुरूप बोध की आकांक्षा ऐसे स्थलों पर बनी ही रहती है । जैसा कि न्याय सूत्र में वात्स्यायन ने कहा है "और यह सारी प्रमा प्रत्यक्ष पर निर्भर है" [न्या. सू. भा. १] क्योंकि यह बात सुनिश्चित है कि जिस पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से हुआ है उसको सैकड़ों आगम या अनुमान प्रमाणों से उसका भिन्न रूप का [अन्यथाभाव] ज्ञान नहीं हो सकता । यहाँ तक कि अलातचक्र जैसे [भ्रान्त-प्रत्यक्ष के] स्थलों पर भी दूसरे प्रत्यक्ष से ही भ्रान्ति का निश्चय होता है [कि यह अग्नि का चक्का नहीं बल्कि मशाल है] । यही संसार का क्रम है । इस कारण से इन दोनों विघ्नों का नाश करने के लिए लोकधर्मियों [यथातथ्य प्रस्तुतीकरण], वृत्तियों [कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती नामक शैलियाँ] और प्रवृत्तियों [स्थानीय प्रयोग] से उपस्कृत चारों प्रकार के अभिनयों का आश्रय लिया जाता है । सच पूछिए तो अभिनय एक ऐसा व्यापार है जो शब्द और लिङ्ग के व्यापार से भिन्न है और प्रत्यक्ष के व्यापार के समान है । इसका विस्तार में निश्चय आगे चल कर होगा ।

६. गौण पदार्थ में किसकी बुद्धि टिकती है ? क्योंकि अप्रधान वस्तु का ज्ञान दूसरी प्रधान वस्तु के पीछे भागते रहने के कारण आत्मनिर्भर या अपने में पर्यवसित

नहीं होता। रस के सन्दर्भ में यह अप्रधानता विभावों और अनुभावों-[जो जड हैं]-में और व्यभिचारियों—जो चेतन होने पर भी नियमतः दूसरे [स्थायीभाव] का मुँह जोहते रहते हैं—में पायी जाती है अतः इनसे भिन्न स्थायी ही उस प्रकार की चर्वणा का विषय है।

इन स्थायिभावों में कुछ स्थायी पुरुषार्थपरक हैं ; अतः वे ही प्रधान है। जैसे रति [शृङ्गार का स्थायिभाव] काम और उससे संबद्ध धर्म और अर्थ नामक पुरुषार्थों पर आश्रित है। क्रोध [रौद्र का स्थायी भाव] कोपप्रधान व्यक्तियों में पाया जाने पर भी अर्थनिष्ठ है और फिर काम और धर्म में भी पर्यवसित होता है। उत्साह [वीर का स्थायिभाव] धर्म, अर्थ, काम सभी तीनों में पाया जाता है और शम [शान्त का स्थायी भाव] तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद या वैराग्य जैसा भाव मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार इन्हीं चारों की प्रधानता है। यद्यपि आपस में ये भी एक दूसरे से गौण बनकर आते हैं, तब भी एक नाटक में एक प्रधान तो दूसरे में दूसरा। इस प्रकार रूपक भेद से बारी बारी से सभी की प्रधानता दिखाई पड़ती है। जो लोग दूर तक देखने में समर्थ हैं उनकी दृष्टि में तो एक ही रूपक में स्थलभेद से उनकी प्रधानता पृथक् दिखाई देती है। इनमें सभी रस सुखप्रधान हैं क्योंकि अपनी ही चेतना का आस्वादन रूप घनीभूत प्रकाश का सार है आनन्द। यहाँ तक कि लौकिक जीवन में भी रति के अंतरंग क्षणों में स्त्रियाँ जब एकघन शोक की अनुभूति के आस्वादन में डूबी रहती हैं उस समय उसमें उनका हृदय रमता है क्योंकि सुख का स्वरूप ही है किसी प्रकार के व्यवधान से रहित विश्रान्ति। विश्रान्ति का न होना ही दुःख है। यही कारण है कि कपिल के अनुयायियों ने दुःख को रजोगुण की वृत्ति बताते हुए प्रकारान्तर से चञ्चलता को ही दुःख के प्राणरूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार सारे रस आनन्दरूप हैं, किन्तु उपरञ्जक विषयों के कारण उनमें भी कहीं कहीं कड़ुएपन का स्पर्श हो जाता है जैसे वीररस में। क्योंकि उसका प्राण ही है क्लेश सहिष्णुता। इस प्रकार रति आदि स्थायीभाव प्रधान कहलाते हैं। सारे संसार में सहज ही प्राप्त होने के कारण अपने विभावों से हृदय को रंग लेने की शक्ति के कारण हास आदि की भीं प्रधानता मानी हैं। इसीलिए छोटे व्यक्तियों में हास इत्यादि अधिकता से पाए जाते हैं। छोटे दर्जे के लगभग सभी व्यक्ति हँसते हैं, दुखी होते हैं, डरते हैं और दूसरे की निन्दा में मजा लेते हैं। छोटी सी भी सुख की बात से चकित हो उठते है। रत्यादि के अंग के रूप में ये हास इत्यादि पुरुषार्थसिद्धि में भी उपयोगी होते हैं। इन्हीं की प्रधानता और अप्रधानता को लेकर रूपकों के दस भेद किए गए हैं, आगे चलकर अभिनवगुप्त द्वारा इसका स्पष्ट प्रतिपादन प्राप्त होता है।

इतने ही स्थायीभाव हैं। पैदा होते ही प्राणी इतनी चित्तवृत्तियों से पूरी तरह घिर जाता है। वस्तुतः "प्राणी दुःख के स्पर्श से भागता है और सुख के आस्वादन के प्रति आकृष्ट होता है" इस उक्ति के अनुसार प्रत्येक प्राणी रमण (रति) की इच्छा से व्याप्त रहता हैं, अपने को दूसरे से अच्छा मानते हुए दूसरे का उपहास उड़ाता है (हास), अभिलषित पदार्थ से वञ्चित कर दिए जाने पर दुःखी होता है (शोक), इस वियोग के कारणों को लेकर क्रोध के बस में हो जाता है (क्रोध), इन कारणों को दूर कर पाने में अक्षम होने पर उनसे डरता है (भय), फिर भी, उन पर कुछ न कुछ विजय तो पाना ही चाहता है (उत्साह), अनुचित वस्तु के विषय में विरक्ति या विमुखता उसे घेर लेती है और उसको वह अवांछनीय के रूप में मानने लगता है (जुगुप्सा), अपने या किसी अन्य के असाधारण कार्यों को देखने से उसे विस्मय होता है (विस्मय) और कुछ न कुछ त्यागने के लिए इच्छुक रहता है (शम) कोई भी जीवित प्राणी इन चित्तवृत्तियों की वासना अर्थात् संस्कार से रहित नहीं होता। केवल किसी की कोई चित्तवृत्ति कुछ ज्यादा और किसी की कुछ कम होती है। किसी की चित्तवृत्ति का उद्रेक सामान्य (उचित) विषय से हो जाता है और किसी का सामान्येतर विषय से। इस प्रकार कुछ ही चित्तवृत्तियाँ (केवल स्थायी न कि व्यभिचारी भी) पुरुषार्थ के साधन में उपयोगी होती हैं। अतः उन्ही का उपदेश किया जाना चाहिए (क्योंकि काव्य या नाटक कान्तासम्मित उपदेश है)। इन चित्तवृत्तियों के विभावों—आलंबन—से ही उत्तम प्रकृति आदि के मनुष्यों का निर्णय होता है। फिर जो ये ग्लानि, शङ्का इत्यादि विशिष्ट चित्तवृत्तियाँ हैं वे यदि उनके विभाव नहीं हैं तो, जन्म ही नहीं लेती। उदाहरण के लिए रसायन का उपयोग किए हुए मुनि में ग्लानि, आलस्य, श्रम इत्यादि चित्तवृत्तियाँ उठ ही नहीं पाती, और जिसके होती भी हैं उस व्यक्ति के भी हेतु के नष्ट हो जाने पर खुद भी नष्ट होती हुई संस्कार या वासना रूप में भी अपना अवशेष नहीं छोड़ती। इसके विपरीत उत्साह आदि चित्तवृत्तियाँ तो अपना कर्तव्य कर चुकने पर विलीनप्राय होती हुई भी संस्काररूप में अवश्य बनी रहती हैं, क्योंकि दूसरे करणीय के विषय में उत्साह आदि अखंडित रहते हैं। जैसा कि पतञ्जलि (वस्तुतः यह उक्ति व्यास की है) ने कहा भी है [यो० सू० २.४ पर व्या.भा.]— "चैत्र एक स्त्री में अनुरक्त है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य स्त्रियों में विरक्त है।"

इस प्रकार स्थायिरूप चित्तवृत्ति में गुंथे हुए ही ये क्षणिक भाव इसीलिए व्यभिचारि कहलाते हैं क्योंकि आविर्भाव और तिरोभाव जन्य अनन्त वैचित्र्य मय स्वरूप को यह धारण करते हैं; क्योंकि ये स्फटिक, कांच, अभ्रक, पुखराज, पन्ना,

नीलम इत्यादि रत्नों के समान हैं जो लाल नीले आदि रंग के तागे में पोए जाकर उनके बीच में झलकने वाले तागे के खाली अंश, [रत्नों के योजना भेद से] जिसकी हजारों भंगिमाएं सम्भव हैं, में अपने संस्कार जन्य वैचित्र्य का आधान न करते हुए भी उस रंगीन तागे [और रत्नों की योजना भेद से होने वाले विरलभाव के विभिन्न रूपों] के द्वारा [इन रत्नों में] किए गए उपकारों अर्थात् सौन्दर्यों को धारण करते हैं और स्वयं भिन्न भिन्न तरह के होने के कारण ये स्थायिरूप तागे को वैचित्र्य से मण्डित करते हैं अर्थात् बीच बीच में वर्तमान शुद्ध स्थायिरूप तागे को दो रत्नों के प्रतिभासन परिधि में लाकर पहले और पीछे वाले व्याभिचारीरूप रत्नों की छाया की शबलिमा से उपरंजित करते हैं। यही कारण है कि इन्हें अस्थिर या व्यभिचारी कहा जाता है! इसीलिए जब कोई यह कहता है कि "यह ग्लान है" तो तत्काल ही उसके कारण को लेकर प्रश्न उठता है" क्यों (यह ग्लानियुक्त है) ?"। इससे इस चित्तवृत्ति की अस्थायिता सूचित होती है किन्तु यह कहने पर कि "राम में बड़ा उत्साह है" कोई इसके कारण के बारे में सवाल नहीं पूछता। अत: यहाँ पर विभाव स्थायिरूप चित्तवृत्तियों को उद्‌बुद्ध करते हुए और उनके स्वरूप को अपने वैशिष्ट्य से रंगते हुए केवल रति और उत्साह इत्यादि के औचित्य या अनौचित्य को ही धारण करते हैं। ऐसा नहीं है कि विभावों के अभाव में स्थायीभावों का कोई अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि वासना रूप से ये चित्तवृत्तियाँ सारे प्राणियों में रहती ही हैं यह बात पहले प्रतिपादित की जा चुकी है। किन्तु व्याभिचारियों के विषय में ऐसा नहीं है। अपने विभावों के अभाव में तो उनका नाम तक नहीं रहता। आठवें अध्याय में यह बात विस्तार से समझाई गई है। इस प्रकार अप्रधानता दोष का परिहार स्थायिभावों के निरूपण द्वारा भी भरत ने इस कथन के द्वारा कर दिया है कि "अब हम स्थायिभावों को रसत्व तक पहुँचाएंगे [ना. शा. ६.५० के बाद का गद्यांश] जहाँ "विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:" रूप रस के सामान्यलक्षण के अंगरूप में ही स्थायिविशेषों के स्वरूप पर विचार किया गया है।

रस के सभी घटकों में विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी का किसी स्थायी-भाव विशेष से कोई नियत संबंध नहीं है क्योंकि आँसू [अनुभाव] इत्यादि आनन्द, आँख के रोग आदि से उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। बाघ [विभाव] क्रोध को भी उत्पन्न कर सकता है और भय को भी। श्रम, चिन्ता जैसी चित्तवृत्तियाँ [व्यभिचारी] भय, उत्साह आदि अनेक स्थायिभावों के साथ देखी जाती हैं। किन्तु अपनी समग्रता में [एक सामग्री के रूप में] इनका स्थायी-विशेष से विपरीत आचरण नहीं होता। उदाहरण के लिए सम्बन्धियों का विनाश

जहाँ विभाव हो, विलाप और आँसुओं का गिरना जहाँ अनुभाव हो चिन्ता एवं दीनता जहाँ व्यभिचारी हो वहाँ अवश्य शोक नामक स्थायी भाव की स्थिति होगी। यही कारण है कि विभाव इत्यादि को लेकर संदेह का उदय होने पर शंका रूपी विघ्न को शान्त करने के लिए भरत ने रससूत्र में 'संयोग' का प्रयोग किया है।

[यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि स्थायी ही रस बनता है [स्थायी एव रसीभूत:) ; पर रस और स्थायि एक नहीं हैं। रस स्थायी से भिन्न है। अभिनवगुप्त ने इसे लोकजीवन में व्यक्ति और काव्यजीवन में सामाजिक की भूमिकाओं की तुलना करते हुए इसे बड़े अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है।] लोक व्यवहार में कार्य, कारण और सहकारिकारणरूप हेतु को देखकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्थायिरूप चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेता है। धीरे धीरे अभ्यास के इस प्रकार के अनुमान करने में कुशलता प्राप्त हो जाने के कारण अब नाटक के सन्दर्भ में उन्हीं उद्यान [कारण], कटाक्ष [कार्य] और धृति [सहकारी], जो सामाजिक की बुद्धि में संयोग, सम्यक् योग सम्बन्ध अर्थात् एकाग्रता प्राप्त कर एक सामग्री के रूप में उभरते हैं—के लौकिक संवेदनों से भिन्न और विघ्नों से रहित संवेदनात्मक आस्वादन का विषय बनता हुआ अर्थ 'रस' कहलाता है। चवर्ण प्रक्रिया का विषय बने रहना ही [चर्व्यमाणता] इसका एकमात्र स्वभाव हैं। यह सिद्ध स्वभाव वाला अर्थात् परिघटित विषय रूप नहीं है। चर्वणा काल में ही इसका अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी काल में यह उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् यह साध्य या प्रक्रिया रूप है, सिद्धरूप नहीं। इसीलिए यह स्थायी से विलक्षण है। नाट्य संदर्भ में उपयुक्त उद्यान इत्यादि लौकिक कारण-भूमि या कार्यभूमि से परे हो जाते हैं और उसका एकमात्र प्रयोजन रह जाता है विभावना [रत्यादि में आस्वादाङ्कुरण की योग्यता का लाना], अनुभावना रत्यादि का समनन्तर रसादि रूप में भावन] और सचारण [इस प्रकार के स्थायिभाव को सम्यक् गति प्रदान करना] रूप व्यापारों के द्वारा सामाजिक की बुद्धि का उपरञ्जन। इसलिए कार्यकारण की लौकिक संज्ञाओं से भिन्न उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि जैसे लोकोत्तर व्यपदेश से संबोधित किया जाता है। इस नामकरण का उद्देश्य पूर्व कारण कार्य इत्यादि के द्वारा छोड़े हुए संस्कारों पर इनकी निर्भरता [उपजीवन] को बताना है। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी बारी-बारी से गौण या प्रधान रूप से सामाजिक की चेतना में एक विशिष्ट सम्बन्ध में अनुगुम्फित होकर एक सामग्री का निर्माण करते हैं जिसके द्वारा ही, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, लोकोत्तर वीतविघ्न चर्वणात्मक संवेदन की गोचरता को प्राप्त तत्त्व 'रस' कहलाता है। यह स्थायी नहीं, स्थायी से विलक्षण है। न कि जैसा शङ्कुक आदि ने कहा है कि चूँकि विभावादि के द्वारा

स्थायी की प्रतीति होती है और चूँकि वह आस्वादन का विषय बनता है अतः वही रस है। यदि शंकुक की बात मान ली जाए तो लौकिक स्थायीभाव को ही रस क्यों न मान लिया जाए। जिस मत में असत् अर्थात् अनुकृत स्थायी रसनीयता मानी जाती हो वहाँ वास्तविक अर्थात् लौकिक स्थायी की रसनीयता क्यों नहीं होगी? इसलिए स्थायी की प्रतीति को अनुमिति रूप कहना चाहिए, रस नहीं। यही कारण है कि रस सूत्र में भरत ने स्थायी शब्द का ग्रहण नहीं किया है, बल्कि इसका ग्रहण काँटे की तरह खटकने वाला होता। [भरत ने 'स्थायिनः विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' नहीं कहा। कहते तो अर्थ होता कि रस किसी भी अन्य व्यक्ति के स्थायी भाव की प्रतीति है।] 'स्थायी रस बनता है' इस प्रकार की बातें केवल औचित्य के आग्रह से कही जाती हैं। औचित्य केवल इतना है कि जो स्थायि विशेष के साथ कारण कार्य इत्यादि के रूप में प्रसिद्ध थे उन्हीं का चर्वणा में उपयोगी होने के नाते विभाव आदि के रूप में अवलम्बन लिया जाता है।

इस प्रकार लौकिक चित्तवृत्ति के अनुमान में कोई रसत्व नहीं है। इसलिए लोकोत्तर चमत्कार रूप रस का आस्वादन स्मृति, अनुमान इत्यादि अपने लौकिक संवेदनों से विलक्षण है। इस बात को यों समझा जा सकता है—लौकिक अनुमान के संस्कारों से युक्त सामाजिक नाटक में किसी प्रमदा को उदासीन भाव से नहीं देखता; अपितु हृदयसंवादरूप अपनी सहृदयता के बल से अनुमान, स्मृति आदि की सीढ़ी पर चढ़े बिना ही पूरे होने वाले रसास्वाद के अंकुर के रूप में और तन्मयीभाव की उपयुक्त चर्वणा के प्राण या स्रोत के रूप में ग्रहण करता है। यह चर्वणा अतीत में किसी अन्य प्रमाण से उद्भूत नहीं हुई और न ही इस चर्वणा की निष्पत्ति में प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों का व्यापार है बल्कि लोकोत्तर विभावादि के एकमात्र संयोग की सामर्थ्य से ही इस चर्वणा का उद्रेक होता है।

यह रसना [१] प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि लौकिक प्रमाणों से होने वाले रति आदि स्थायीभावों के बोध से भिन्न है। [२] इसी प्रकार योगिप्रत्यक्ष से होने वाले दूसरे के चित्त के तटस्थ ज्ञान से भिन्न है। और [३] सभी विषयगत उपरागों से मुक्त, शुद्ध परमयोगी को होने वाले स्वात्मानन्द के एकघन अनुभव से भी भिन्न है। क्योंकि बोध के इन तीनों प्रकारों में क्रमशः उपार्जन रूप भिन्न-भिन्न विघ्नों के उदय के कारण, उदासीनता तथा तज्जन्य अस्फुटता के कारण और विषय स्पर्श की विवशता के अभाव अर्थात् विषयास्वाद की शून्यता के कारण सौन्दर्य का अभाव रहता है। यहाँ पर इसके विपरीत सुख दुःख के संवेदनों का केवल हमसे संबन्धित रूप में ग्रहण न होने के कारण विषय के आवेश में रहने की

कोई विवशता नहीं है। अपना भी उल्लेख [स्वानुप्रवेश] होने से संवेदनों का एकमात्र दूसरे से सम्बद्धरूप में ग्रहण न होने के कारण उदासीनता और अस्फुटता नहीं पायी जाती ; और अपनी रत्यादि वासना—जो उपर्युक्त विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा जगाई जा चुकी है और विभावादि के अनुरूप है—में आवेश बने रहने के कारण अन्य विघ्नों का उदय सम्भव नहीं है यह बात हम कई बार कह चुके हैं।

अतः विभावादि रस की उत्पत्ति के हेतु [कारक हेतु] नहीं है क्योंकि तब उनका बोध समाप्त हो चुकने पर भी रसानुभव को होते रहना चाहिए। न ही वे रस की ज्ञप्ति के हेतु [ज्ञापक हेतु] हैं ; जिनसे कि उनकी गणना प्रमाणों के बीच की जाए, क्योंकि विषयभूत किसी भी ऐसे रस का अस्तित्व नहीं है जो प्रमेय बन सके। प्रश्न यह है कि फिर ये विभावादि क्या हैं ? सच बात यह है कि चर्वणा का साधक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही है। ऐसी वस्तु कहीं देखी भी गयी है—यदि ऐसा कोई पूछे तो लोकोत्तरता सिद्धि के हमारे अभियान में यह दूषण नहीं बल्कि भूषण हैं। पानक रस का स्वाद क्या गुड़ काली मिर्च आदि उसके घटकों में कहीं देखा गया है। उपर्युक्त बात भी ऐसी ही है।

कोई कह सकता है कि तब रस ज्ञान का विषय नहीं हो सकेगा। यह कहना उचित है। वस्तुतः यह रस्यात्मक अर्थात् रस्य है प्रमेयरूप नहीं। तब सूत्र में यह कैसे कहा गया है कि रस की निष्पत्ति होती है। वस्तुतः यह निष्पत्ति रस की नहीं ; अपितु रसविषयक रसना की होती है। रसविषयक रसना की निष्पत्ति से यदि एकमात्र उसी के अधीन जीवन वाले रस की निष्पत्ति भी कही जाती है तो इससे कोई दोष नहीं होता ; और वह रसना न प्रमाण का व्यापार है, न कारक का। स्वयं में वह अप्रामाणिक भी नहीं कही जा सकती ; क्योंकि अपने ही संवेदन से उसकी सत्ता प्रमाणित है। यह रसना निश्चय ही बोधरूपा है। किन्तु बोध की लौकिक विधाओं से विलक्षण है; क्योंकि इसके विभावादि उपाय ज्ञान के लौकिक उपायों से भिन्न हैं। अतः विभावादि के संयोग से चूँकि रसना की निष्पत्ति होती है उसी कारण से उस प्रकार की रसना के द्वारा ग्राह्य या आस्वादनीय लोकोत्तर अर्थ रस है—यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

इसे संक्षेप में यों कहा जा सकता है—मुकुट और मुखौटे इत्यादि से पहले तो यह नट है यह प्रतीति छिप जाती है। फिर, पूर्वकालीन बुद्धि के गहरे संस्कारों के कारण, काव्य के बल लाई जाती हुई भी राम की प्रतीति नट में पूरी तरह से स्थिर नहीं हो पाती। अतः सामाजिक के मन में दोनों के [नट और राम—अनुकर्ता और अनुकार्य] देश और काल का उन्मूलन हो जाता है। रोमाञ्च आदि लौकिक

को दृष्टान्तः। अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यै-र्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

अत्राह—रस इति कः पदार्थः? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।

भरत मुनि ने प्रश्न उठाया है कि क्या इस विषय में कोई दृष्टान्त है? जैसे नाना व्यञ्जन, औषधि एवं द्रव्यों के संयोग से पेय रस की निष्पत्ति होती है, वैसे ही नाना भावों के उपगम से (दृश्यकाव्य में) रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुड़ इत्यादि पदार्थों एवं इमली, हल्दी आदि औषधियों से युक्त व्यंजन[1] छः प्रकार का हो सकता है उसी भाँति अनेक भावों से युक्त स्थायी भाव "रसत्व" को प्राप्त होते हैं।

भरत मुनि पुनः प्रश्न करते हैं कि यह कौन सी वस्तु है?[2] इसके उत्तर में

होने पर भी अनेक बार रति के द्योतक के रूप में ही सामाजिक के द्वारा देखे गए हैं। अतः लौकिक देशकाल के बन्धन से मुक्त होकर वे उस रति का अवगमन कराते हैं, जिसमें उस वासना से युक्त होने के कारण सामाजिक का आत्मोल्लेख भी होता है। अतः रति का बोध न तो सामाजिक उदासीन भाव से करता है और न ही निश्चित आलम्बन के रूप में अपने से संपृक्त रूप में; जिससे कि उपार्जन आदि विघ्नों की सम्भावना हो वही नियत दूसरे व्यक्ति से सम्बद्ध रूप में जिससे दुःख, द्वेष, ईर्ष्या आदि की सम्भावना हो। अतः इस प्रकार से, साधारणीभूत प्रवाह वृत्ति वाली एक ही संविद् की आस्वाद्यभूत रति शृंगार है और यह साधारणीभाव विभावादि के द्वारा उपलब्ध होता है।

१ व्यंजन का अर्थ अभिनव के मत में उपसेचन पदार्थ है। तिक्त, मधुर, चुक्र, लवण, कड़वा व कसैला छः भेद व्यंजनों के होते हैं। इनमें से भिन्न स्वाद के इमली, गेहूँ, काँजी, हल्दी आदि पदार्थों के संयोग से पाचक जिस षाडव रस का निर्माण करता है उसमें इनमें से किसी भी स्वाद की अलग सत्ता नहीं होती। अपितु इन सबके मिश्रण से एक अभूतपूर्व अनोखे स्वाद की ही स्थिति होती है। इसी भाँति विभावादि द्वारा उत्पन्न होकर प्रत्यक्षकल्पना को प्राप्त रूप में, लौकिक भावों की अपेक्षा से जो स्थायीभाव हैं वे अपने रसमयतारूप प्राणतत्व के साथ नाटकादि में रसत्व को प्राप्त करते हैं।

२. इस प्रश्न द्वारा यहाँ सूत्र के लक्षणपद की व्याख्या के लिए प्रश्न किया गया है। रस शब्द का प्रयोग अधिकतर मधुरादि रस, पारद, विषय, सार, जल-संस्कार, अभिनिवेश, क्वाथ, देह, धातु का सार आदि अर्थों में प्रसिद्ध है। पर इस

कहा गया है कि आ वादित की जाने वाली वस्तु की सज्ञा 'रस' है।[1]

कथमास्वाद्यते रसः । यथा हि—नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः ।

जिज्ञासा उठती है कि रस का आस्वादन किस प्रकार किया जाता है ? इसका उत्तर है कि जैसे रसिक जन अनेक प्रकार के व्यंजन से परिमार्जित अन्न का भोजन करते हुए मधुर आदि रसों का आस्वादन करते हैं[2], वैसे ही सहृदय प्रेक्षक अनेक भावों से अभिव्यक्त किए जाने वाले एवं वाचिक आङ्गिक तथा सात्विक [अभिनय] से युक्त स्थायी भाव का आस्वादन करके प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार नाट्य तथा रस की व्याख्या की गई है।

नाट्य रस—

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥ ३२ ॥

प्रसंग में शृंगारादि अर्थ में प्रयुक्त होने वाले रस शब्द के अर्थ एवं उनके प्रवृत्ति-निमित्त का आग्रह इस प्रश्न से होता है। प्रस्तुत प्रश्न से यह व्यंजना भी निकलती है कि रस शब्द से उसके विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे होता है और उस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में प्रयोक्ता की कैसे प्रवृत्ति होती है ?

१. शृंगारादि के प्रति रस शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तता बताने के लिए "आस्वाद्यमानात्" इस प्रयोग का भरतमुनि ने उपयोग किया है। रस शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त आस्वादन क्रिया है। शृङ्गारादि का ज्ञान यद्यपि रसनेन्द्रिय से नहीं होता, तब भी उसे आस्वादन इसलिए कहा जाता है कि यहाँ प्रयुक्त "यथा" एवं "तथा" शब्द से यह सूचित होता है कि यह औपचारिक क्रिया का आश्रय लेकर सादृश्य को व्यक्त करने के लिए कहा गया है।

२. कुछ लोगों के मत में अन्नादि के आस्वादन में। आत्मा [आस्वादयिता], २. रसना [आस्वादन क्रिया] तथा ३. मन, यह तीन भेद होते हैं। पर रस में केवल आस्वादन मात्र होता है। अतः इन दोनों का सादृश्य दिखाना उचित नहीं। और इसका परिहार यह बताया है कि यहाँ आत्मा मनः स्थानीय हो जाता है व मन रसस्थानीय होता है। आचार्य अभिनव का मत है कि यह तर्क अनुपयुक्त है क्योंकि यहाँ भरतमुनि का उद्देश्य केवल रसोत्पति में उपचार या सादृश्य का ही मुख्यरूपेण प्रतिपादन करना है।

भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वदयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥ ३३ ॥

इस विषय में दो परम्परागत श्लोक भी प्रचलित हैं—

जैसे भोजन के ज्ञाता जन अनेक द्रव्य एवं नाना व्यंजनों से युक्त भोजन का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार प्राज्ञजन अनेक भावों और अभिनय से युक्त स्थायी भावों का मानसिक आस्वादन करते हैं। इसी कारण [ये स्थायी भाव] नाट्य रस कहे जाते हैं ॥ ३२-३३ ॥

भावों से रसों की उत्पत्ति—

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ? केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति । तन्न । कस्मात्, दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।

यहाँ शंका उठती है—रस से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रस की ? इसके विषय में कहा जाता है कि कुछ लोगों के अनुसार यह पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होते हैं। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि भावों से रसों की उत्पत्ति तो दिखाई पड़ती है ; किन्तु रसों से भावों की उत्पत्ति नहीं दीख पड़ती।

भावों का लक्षण—

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

नानाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३४ ॥

इस विषय में परम्परागत श्कोक इस प्रकार हैं—

क्योंकि नानाविध अभिनयों से संबद्ध रसों को यह भावित करते हैं ; अतः नाट्यप्रयोक्ता द्वारा इन्हें "भाव" माना जाता है ॥ ३४ ॥

भावों से रसों की निष्पत्ति—

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार विविध रीतियों से तथा प्रभूत सामग्री से व्यंजनों[1] का सम्पादन किया जाता है उसी प्रकार भावों द्वारा विभिन्न अभिनयों के माध्यम से रसों का सम्पादन किया जाता है ॥ ३५ ॥

---

१. विविध द्रव्यों के योग से बनने वाले पदार्थ की संज्ञा 'व्यंजन' होती है। यहाँ तात्पर्य यह कि जैसे अनेक द्रव्यों के सानुपात मिश्रण से एक व्यंजन बनता है, वैसे ही विविध भावों के संयोग से एक रस की निष्पत्ति होती है।

रसों तथा भावों का सम्बन्ध—

न रसो भावहीनोऽस्ति न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ३६ ॥

भाव से रहित रस नहीं होता और रस से रहित भाव भी नहीं रहता, इनके अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से अभिनय में पूर्णता आती है[1] ॥ ३६ ॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥ ३७ ॥

जैसे मसाले आदि के योग से व्यंजन स्वादिष्ट बनता है ; उसी प्रकार रस एवं भाव एक दूसरे को भावित करते हैं[2] ॥ ३७ ॥

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार बीज से वृक्ष, और वृक्ष से फूल एवं फल होते हैं, वैसे रस ही मूल है और उसी पर भाव आधारित रहते हैं[3] ॥ ३८ ॥

---

१. रस के विना भाव की स्थिति नहीं होती इस कथन का अभिप्राय है कि लोक के विना विभावादि का व्यवहार नहीं होता । रस एवं भाव के पारस्परिक योग से अभिनय में सिद्धि होती है । चूँकि अभिनय में रस का अनुभव होने पर उसके सहायक होने से कारणादि विभाव कहलाते हैं अतः इन दोनों के योग से अभिनय का सिद्ध होना नितान्त उपयुक्त है । किन्तु यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, जैसा कि अगले श्लोक से स्पष्ट है ।

२. रस तथा भाव कर्ता रूप में स्थित होकर कर्मभूत दूसरे को भावित करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जैसे एक विषय में एक ही क्रिया होने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है वैसा यहाँ नहीं होता क्योंकि इसमें क्रियाभेद रहता है । भावों द्वारा स्थायीभाव रस्यमान होता है और रसों द्वारा कारणरूप [रामादि] को विभाव माना जाता है । अतः क्रियाभेद रहने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं आने पाता ।

३. यदि भावों से रस की उत्पत्ति मानी जाय तो फिर "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" इस उक्ति की सार्थकता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उत्तर है कि जैसे वृक्ष के मूल में कारणरूप बीज रहता है, वैसे ही काव्य के मूल में रस रहता है [बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः] । कविगतसंविद् ही वास्तव में मूलभूत रस है [कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नट-

चार मूल रस—

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा—श्रृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति । अत्र—

यह रस संज्ञक स्थायिभाव माने जाते हैं । अब हम इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता एवं उदाहरणों की व्याख्या करेंगे । इन रसों की उत्पत्ति के चार हेतु हैं । यथा—शृंगार, रौद्र, वीर एवं वीभत्स । यहाँ श्लोक इस प्रकार है—

मूल रसों से अन्य रसों की उत्पत्ति—

श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ॥ ३९ ॥

शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्‌भुत की एवं वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती[1] ॥ ३९ ॥

श्रृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥ ४० ॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः ॥ ४१ ॥

व्यापारः] इसी से व्यक्ति को विभावादि की प्रतीति होती है । काव्यगत उद्‌भावना में कवि सामाजिकवत् होता है; जैसा कि ध्वन्यालोककार का भी कहना है—'शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्' [ध्व. ३.४२] बीजरूपी इसी रस से वृक्षरूपी काव्य होता है । इसमें अभिनयादि पुष्परूपी एवं रस का आस्वादन फलरूपी होता है ।

दूसरे व्याख्याताओं के अनुसार बीजरूपी भाव होता है जिससे वृक्षरूपी रस की उत्पत्ति होती है एवं पुष्परूपी अभिनय द्वारा फलरूपी भोग मिलता है । यहाँ व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि इसमें आदि एवं अन्त दोनों में भाव आता है जो असंगत है [एवं हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्यादित्यास्ता चैतत्] ।

१. चार रस मुख्य बताए गए हैं जिनसे अन्य चार गौण रसों की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है । इनका तात्पर्य यह है कि मुख्य रसों के विभावों द्वारा गौण रसों की उत्पत्ति होती है । किन्तु कभी कभी इसके अतिरिक्त विभावों से भी इन रसों की उत्पति हो जाती है यथा वीर रस के विभाव से भी हास्य की उत्पत्ति हो जाती है । अतः उत्पत्ति का अर्थ यहाँ यह होगा कि हास्य शृंगार मूलक होता है, इत्यादि ।

जो शृंगार को अनुकृति होती है उसे 'हास्य' कहा जाता है, रौद्र का कर्म करुण, वीर का अद्भुत तथा वीभत्स का कर्म भयानक रस जानना चाहिए[1] ॥ ४०-४१ ॥

रसों के वर्ण—

अथ वर्णाः—

श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ४२ ॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४३ ॥

शृंगार रस का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत सदृश, रौद्र का लाल, वीर का गौर, भयानक का काला, वीभत्स का नीला एवं अद्भुत रस का वर्ण पीला होता है[2] ॥ ४२-४३ ॥

रसों के देवता—

अथ दैवतानि—

शृङ्गारो विष्णुदेवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः ॥ ४४ ॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥ ४५ ॥

शृंङ्गार रस के अधिष्ठातृ देवता विष्णु[3], हास्यरस के प्रमथगण, रौद्ररस के रुद्र देव, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र एवं अद्भुतरस के ब्रह्मा हैं[4] ॥ ४४-४५ ॥

---

१. यहाँ शृङ्गारादि चार रसों को हास्यादि चार रसों का मूल कारण कहा गया है । यह मूल रस धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय से अतिक्रान्त होने के साथ साथ सौन्दर्यातिशय के भी जनक हैं ।

२. अभिनवगुप्त के मत में इन रसों के वर्णों का उल्लेख उनकी पूजा आदि के अवसर पर उपयोगी हैं [वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि] । किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि पात्रों के मुख की सज्जा करने में इन वर्णों का उपयोग होता है ।

यहाँ शान्तरस का उल्लेख नहीं है । अतः शान्तरस की सत्ता मानने वाले "स्वच्छपीतौ शमाद्भुतो" यह मूल पाठ मानकर शान्तरस का वर्ण स्वच्छ मानते हैं ।

३. अभिनवगुप्त के मत में विष्णु से यहाँ कामदेव का तात्पर्य है ।

४. अभिनवगुप्त का कथन है कि जो आचार्य शान्तरस को मान्यता देते हैं वे यहाँ "बुद्धशान्तेऽब्जजोऽद्भुते" यह पाठ मानकर परोपकारी एवं ज्ञानी बुद्ध भगवान् को शान्त रस का अधिष्ठातृ देवता स्वीकार करते हैं ।

उपक्रम—

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि। इदानीमनुभाव-विभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। स्थायि-भावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः।

इस प्रकार इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण एवं अधिष्ठातृ देवताओं की व्याख्या की गयी। अब हम विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारि भाव से संयुक्त होने पर इनके लक्षण तथा उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। तथा रसों के स्थायी भावों का भी वर्णन करेंगे।

अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्

शृङ्गार रस का लक्षण—

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्कि-ञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्ता-वदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तो-पदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्या-श्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।

इनमें शृङ्गार रस रति नामक स्थायिभाव से उत्पन्न होता है। यह उज्ज्वल स्वरूप वाला होता है। संसार में जो कुछ पवित्र है, पूजनीय है, शुभ्र है तथा दर्शनीय है उसकी उपमा शृङ्गार द्वारा दी जाती है। यथा उज्ज्वल वेशधारी व्यक्ति को शृंगारवान् कहा जाता है। जिस प्रकार लोगों के नाम गोत्र, कुल एवं आचार के अनुसार तथा आप्तपुरुष के कथन पर आधारित होते हैं, उसी प्रकार इन रसों, भावों एवं नाट्याश्रित अर्थों के नाम व्यवहार तथा आप्त पुरुषों के उपदेश पर आधा-रित होते हैं। इस भाँति शृंगार रस अनेक आचारयुक्त, चित्तरञ्जक एवं उज्ज्वल वेष से सम्पन्न होता है। उत्तम प्रकृति वाले नायक एवं नायिका इस शृंगार रस के हेतु होते हैं।

शृंगार रस के दो भेद—

[क] सम्भोग शृङ्गार—

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतु-माल्यानुलेपनालंकारेष्टजन - विषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवन-श्रवण-दर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

इसके दो अधिष्ठान[1] हैं—संयोग एवं विप्रलम्भ। इनमें सम्भोग श्रृंगार, ऋतु, पुष्पमाला, सुगन्धित अंगराग, अलंकार, इष्ट जन, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, उपवन में विहार, अनुभव अथवा श्रवण दर्शन, क्रीडा एवं लीलादि से उत्पन्न होता है।

तस्य नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः।

इस [संभोग श्रृङ्गार] का अभिनय, नेत्रों के चातुर्य से, भ्रू विक्षेप से, कटाक्ष से, ललित मधुर अङ्गहारों से एवं प्रिय वाक्यों आदि से किया जाता है।

इस [श्रृङ्गार रस] के व्यभिचारीभाव आलस्य उग्रता एवं जुगुप्सा को छोड़कर शेष होते हैं।[2]

[ख] विप्रलम्भ श्रृङ्गार—

विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशंकासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रास्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य[मोह]मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।

विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य (मोह) एवं मरण[3] आदि अनुभावों द्वारा होता है।

---

१. यहाँ अधिष्ठान का अर्थ अभिनव ने अवस्था लिया है।

२. इसका तात्पर्य यह है कि कुल व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस बतायी गयी है। इनमें से उल्लिखित तीन को छोड़कर शेष तीसों व्यभिचारी भाव श्रृंगार रस में होते हैं।

३. प्राचीन आचार्यों के अनुसार मृत्यु का प्रदर्शन करना चाहिए। अभिनव के मत में जीवन की इस कुत्सित अवस्था में रति भी असम्बद्ध हो जाती है क्योंकि इसका उपयोग देह द्वारा ही होता है। अतः मरण की सम्भावना का या जिसमें शीघ्र पुनर्मिलन हो ऐसे मरण का वर्णन करना चाहिए नहीं तो शोक की अवतारणा हो जायेगी [तादृश्यां दशायां स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थाबन्धोऽपि विच्छिद्यत एवेति सम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते]। अभिनव ने ऐसे भी व्याख्याकारों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार मरण से जीवन की समाप्ति का अभिप्राय न होकर प्राणत्याग कर्तृत्वरूप चैतन्यावस्था का ही ग्रहण किया जाना चाहिए [अन्ये त्वाहुः—मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते। अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका]।

श्रृंगार और करुण में भेद—

अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः श्रृङ्गारः, कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः श्रृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

यहाँ शंका उठती है कि यदि श्रृंगार रति से उत्पन्न होता है तो इसमें करुण रसाश्रयी भाव क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि श्रृङ्गार के संयोग एवं विप्रलम्भ यह दो भेद होते हैं। कामशास्त्र के शास्त्रकारों ने भी काम की दस दशाओं का उल्लेख किया है[1]। इनके विषय में हम सामान्याभिनय के प्रसंग में बतायेंगे।

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।

करुण रस में शाप एवं क्लेश में पड़े हुए इष्ट जन, विभवनाश, वध और बन्धन आदि से उत्पन्न होता है तथा निरपेक्षभाव वाला[2] होता है। विप्रलम्भ में उत्सुकता एवं चिन्ता से उत्पन्न सापेक्षभाव [आशामुक्तभाव वाला] रहता है।

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः श्रृंगारो भवति।

इस भाँति करुण रस की अलग सत्ता है और विप्रलम्भ की अलग। इस प्रकार यह श्रृंगार रस सभी भावों[3] से युक्त होता है।

श्रृंगार रस की व्याख्या—

अपि च

सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादिसेवकः।
पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृङ्गार इति संज्ञितः॥ ४६॥

---

१. कामशास्त्र में वर्णित दस दशायें यह हैं—१. नयनप्रीति, २. चित्तासंग, ३. संकल्प, ४. निद्राछेद, ५. तनुता, ६. विषयनिवृत्तिः, ७. त्रपानाश, ८. उन्माद, ९. मूर्च्छा और १० मरण।

२. करुण रस को निरपेक्ष भावयुक्त कहने से करुण एवं विप्रलम्भ श्रृङ्गार का भेद स्पष्ट हो जाता है। करुण के निरपेक्ष होने का तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार में इष्टजनादि के विषय में जो पुनर्मिलनादि की आशा रहती है वह करुण में नहीं रहती। अर्थात् श्रृङ्गार रस सापेक्ष भावयुक्त रहता है पर करुण निरपेक्ष भाव या नैराश्य प्रधान भाव होता है।

३. सभी भावों से ३० भावों का तात्पर्य है क्योंकि आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्सा इन तीन भावों का पहले ही बहिष्कार कर दिया गया है।

जो रस सुखमय इष्ट से युक्त हो। ऋतुमाला इत्यादि [उद्दीपन पदार्थों] द्वारा रंजन करता हो, स्त्री एवं पुरुष से युक्त हो उसे श्रृंगार रस कहा जाता है[1] ॥ ४६ ॥

अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः—

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः श्रृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ ४७ ॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४८ ॥

॥ इति श्रृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

——०——

इस विषय में सूत्रभूत दो आर्याएँ भी हैं—

ऋतु, माला, अलंकार, प्रियजन, गायन[2], काव्य के सेवन, उपवन में जाने एवं विहारादि से श्रृंगार रस की उद्भावना होती है। नेत्र एवं मुख की प्रसन्नता से, मुस्कराहट, मधुरवाणी, धृति, प्रमोद एवं ललित अंग संचालन से उस [श्रृंगार] का अभिनय प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ४७-४८ ॥

॥ इति श्रृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि भोक्ता ही स्थायीभाव वा संविद् स्वरूप [आस्वाद करने वाला] होता है [भोक्तैव च स्थायी संविद्रूपः]। और यह भोक्ता पुरुष होता है क्योंकि भोक्तृत्व में पुरुष की प्रधानता होती है, स्त्री तो भोग्या मात्र होती है [भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यं, प्रमदायास्तु भोग्यत्वम्]। प्रधान होने से भोक्ता–पुरुष भोग्या स्त्री के अधीन नहीं होता। अतः अन्य स्त्रियों से पुरुष के सम्बन्ध रहने पर भी श्रृंगार रस की हानि नहीं होती पर स्त्री के परतन्त्र होने के कारण अन्य पुरुषों से उसका सम्बन्ध रहने पर श्रृंगार रस का भंग हो जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर स्थायिभाव में भेद होने की शंका निर्मूल है [अतएव न स्थायिभेदः शंकनीयः]। श्लोक में उल्लिखित "सुखप्रायेष्ट" आदि पुरुष के विशेषण हैं जिनसे यह दिखाया गया है कि सबको मिलाकर श्रृंगार रस होता है। विभावादि के भोक्ता में समाहित होने से भोक्ता का प्राधान्य भी दिखाया गया है।

२. गान्धर्व का अर्थ गायन अभिनवगुप्त को मान्य है [गान्धर्व शब्दो गीतादि-हृद्यविषयोपलक्षणम्]।

अथ हस्यरसप्रकरणम्

हास्य रस —

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतपरवेषालङ्कारः धाष्ट्र्यलौल्यकुहकासत्प्रलापव्यङ्गदर्शन दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्योष्ठनासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादि-भिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रा-निद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः।

"हास" नामक स्थायीभाव वाला हास्य रस होता है। यह हास्य रस किसी दूसरे व्यक्ति के विकृत वेष, अलंकार, धृष्टता लालचीपन, कुहक[1] [कुक्षि या ग्रीवादि के स्पर्श], वृथा संवाद, अंग-राहित्य[2] एवं दुर्गुणों के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

इस [हास्य रस] का अभिनय ओठ, नाक एवं गालों को फड़काने, आँखों को फाड़ने और सिकोड़ने, पसीना, मुख को लाल करने, पार्श्वों को दबाने[3], आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए। इसके व्यभिचारि भाव अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध एवं असूया आदि हैं।

हास्य रस के दो प्रकार—

द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

यह हास्य रस दो प्रकार का होता है—१. आत्मस्थ एवं २. परस्थ। जब व्यक्ति स्वयं हंसता है तो उसे आत्मस्थ हास्य कहते हैं और जब दूसरों को हँसाता

---

१. [कुहकं कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्धं बालानाम्"] यह अभिनवगुप्त का कथन है। बालकों को हंसाने के लिए उनके कांख व गले में गुदगुदाना 'कुहक' कहलता है।

२. यथा नकटापन, ओष्ठादि का कटा होना, लंगड़ापन आदि।

३. अभिनवगुप्त की व्याख्या [पार्श्वयोर्ग्रहणं पीडनम्" से] पार्श्वों को दबाने का बोध होता है पर आचार्य विश्वेश्वर के मत में इसका अर्थ 'पेट पकड़ना' है। श्री बाबूलाल शुक्ल ने इसका अनुवाद 'बगली झाँकना' किया है जोकि उचित नहीं लगता; क्योंकि हास्य में बगलें झाँकने की कोई संगति नहीं है। पेट पकड़ना एवं पार्श्व दबाना लगभग समानार्थक हैं क्योंकि हास्य के आधिक्य में प्रायः पसलियों के नीचे पेट के दोनों पार्श्व हाथों से दबाकर हास्य के आवेग को सहन किया जाता है'

है तो परस्थ हास्य कहा जाता है।[1]

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ।। ४९ ।।

इस विषय में दो परम्परागत आर्या प्राप्त हैं—

विपरीत [स्थान पर धारण किए गए] अलंकारों, विकृत आचार, नाम तथा परिधानों एवं विकृत अर्थविशेषण के द्वारा जो हँसाता है वह हास्य रस [आत्मस्थ] होता है ।। ४९ ।।

विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ।। ५० ।।

विकृत आचार एवं वाक्यों से अङ्गविकारों से, विकृतवेष से जो दूसरों को हँसाता है वह हास्यरस [परस्थ] होता है ।। ५० ।।

हास्य रस के छः भेद—

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ।। ५१ ।।

यह हास्य रस स्त्री एवं नीच प्रकृति के पुरुषों में अधिक पाया जाता है। इसके छः भेद होते हैं जिन्हें मैं आगे पुनः कहूँगा ।। ५१ ।।

हास्य की तीन प्रकृतियाँ—

१. उत्तम, २. मध्यम, और ३. अधम

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ।। ५२ ।।

१. स्मित, २. हसित, ३. विहसित, ४. उपहसित, ५. अपहसित एवं ६. अति-

---

१. अभिनवगुप्त ने शंकुक की इस मान्यता का खण्डन किया है कि अपने विकृत वेष से विदूषक का हँसना आत्मस्थ तथा देवी को हँसाना परस्थ हास्य है। साथ ही उन्हें यह भी मान्य नहीं कि स्वयं जिसमें विभाव है वह हास्य आत्मस्थ व दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ हास्य है [तद्विभाव आत्मस्थः, अतोऽन्यविभावकस्त्वन्यः इत्यप्यसत् ।] अभिनव की धारणा है कि स्वयं विभावों का दर्शन न करने पर भी दूसरों को देखकर हँसना परस्थ हास्य है [यह संक्रमण उसी भाँति होता है जैसे खट्टे पदार्थ को खाने वाले के दर्शनमात्र से दूसरे व्यक्ति के मुँह में भी पानी आ जाता है] इसके विपरीत जो हास स्वगतरूप है वह आत्मस्थ है।

हसित[1] हास्यों में से दो दो भेद उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकृति के लोगों में पाए जाते हैं ॥ ५२ ॥

तत्र

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

उत्तम जन के [हास्य को] स्मित एवं हसित, मध्यम जन के [हास्य को] विहसित तथा उपहसित, तथा अधमजन के [हास्य को] अपहसित एवं अतिहसित हास्य जानना चाहिए ॥ ५३ ॥

उत्तम प्रकृति गत हास्य—

[१. स्मित, २. हसित]

अत्र श्लोका :—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ५४ ॥

उत्फुल्लानननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ५५ ॥

इस विषय में यह श्लोक है—

कुछ खिले हुए से गालों एवं नेत्रों के सुष्ठु कटाक्षों से युक्त एवं जिसमें दाँत दिखाई न पड़े एवं जो गम्भीर हो ऐसी स्मित उत्तम पुरुषों के होते है ।

हसित उसे कहते हैं जो विकसित मुख एवं नेत्रों से एवं खिले हुए गालों से युक्त होता है एवं जिसमें थोड़े थोड़े दाँत दिखाई पड़ते हैं ॥ ५४-५५ ॥

मध्यम प्रकृतिगत हास्य—

[१. विहसित, २. उपहसित]

अथ मध्यमानाम् :—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ५६ ॥

उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ५७ ॥

---

१. हास्य की मन्दता स्मित बढ़ने पर हसित, और अधिक बढ़ने पर विहसित, तथा इनसे भी अधिक बढ़ने पर दूसरों के समीपगत होने पर उपहसित एवं इसी क्रम से अपहसित एवं अतिहसित हास्य कही जाती है ।

मध्यम पुरुषों के हास्य का लक्षण निम्न हैं—

जिसमें आँखे तथा गाल सिकुड़े हुए हों, तथा जो मधुर शब्दमय हो, समय के अनुकूल हो एवं जिसमें मुख लाल हो जाए उसे विहसित हास्य जानना चाहिए।

जिसमें नाक फूल जाए, टेढ़ी दृष्टि से देखा जाए[1] और अङ्ग एवं सिर नीचे की ओर झुक जाए वह उपहसित हास्य होता है ॥ ५६-५७ ॥

अधम प्रकृतिगत हास्य—

[१. अपहसित, २. अतिहसित]

अथाधमानाम् :—

अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ५८ ॥

जब बिना अवसर के हंसा जाए[2], जब हास्य में आंखों में आसूँ आ जाए एवं कन्धा तथा सिर हिलने लगे तो उसे अपहसित हास्य कहा जाता है ॥ ५८ ॥

संरब्धं साश्रुनेत्रं च विकृष्टस्वरमुद्धतम्।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ५९ ॥

अश्रुपूर्ण नेत्रों से युक्त, श्रवणकटु स्वरयुक्त, उद्धत एवं जिससे (वेग रोकने के लिए) हाथों से पसलियों को दबाना पड़े वह हास्य 'अतिहसित' होता ॥ ५९ ॥

हास्य रस का अभिनय—

हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ६० ॥

नाटक के कार्यवश जो हास्य के अवसर मिले उनमें उत्तम, मध्यम एवं अधम जन के अनुकूल हास्य के भेदों को प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ६० ॥

हास्य रस का उपसंहार—

इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥ ६१ ॥

॥ इति हास्यरसप्रकरणम् ॥

इस प्रकार यह हास्य स्वसमुत्थ एवं परसमुत्थ इन दो प्रकारों[3] का एवं तीन

---

१. जिह्म नामक दृष्टि जिसका ना. शा. के आठवें अध्याय में विश्लेषण किया गया है उसका प्रयोग करते हुए, अर्थात् तिरछा देखते हुए।

२. अभिनव के मत में अस्थान में हंसने का तात्पर्य है हास्य के अनुपयुक्त अवसर पर–यथा शोकादि के समय हंसना [अस्थान इत्यकाले शोकाद्यवसरे]।

३. हास्य के स्वसमुत्थ प्रकार से संक्रान्त न होने वाले त्रिविध हास्य [स्मित, हसित एवं विहसित] का बोध होता है तथा परसमुत्थ हास्य से संक्रान्त होने वाल

प्रकार की प्रकृति वाला तथा तीन अवस्थाओं वाला होता है ॥ ६१ ॥

अथ करुणरसप्रकरणम्

करुण रस का लक्षण, स्थायी भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव—

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विप्रयोगविभवनाश-वधबन्धविद्रवोपघात-व्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्श्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मार-त्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः।

शोक स्थायीभाव से उत्पन्न रस का नाम करुण है। वह शाप, क्लेश, दलित प्रियजन के वियोग, सम्पत्ति हानि, वध, बन्धन, विद्रव [देश निकाला], उपघात [चोट, आग आदि] या व्यसनों में लिप्त होने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय आँसू गिराने, विलाप करने, मुख सूख जाने, रंग फीका पड़ने, अंगों के शिथिल हो जाने, ठंडी साँस भरने, स्मृति के लोप आदि अनुभावों द्वारा किया जाना चाहिए। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद[1] इसके व्यभिचारी भाव हैं।

आर्याछन्द में करुण रस का लक्षण, विभाव, अनुभाव—

अत्रार्ये भवत :—

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति ॥ ६२ ॥

इस विषय में आर्यायें इस प्रकार हैं—

प्रियजन का वध देखने से अथवा अप्रिय वचन सुनने से तथा ऐसे ही भावों से

तीन प्रकार के [उपहसित, अपहसित एवं अतिहसित] का बोध होता है। जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है [स्वसमुत्थ इत्यसंक्रान्त स्मितविहसितापहसितलक्षः। परसमुत्थः संक्रान्तो हसितोपहसितातिहसितस्वरूपः]।

१. वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद की गणना सात्त्विक भावों में की जा चुकी है किन्तु यहाँ वे व्यभिचारी भावों में गिने गये हैं। किन्तु इससे पुनरुक्ति दोष नही आता; क्योंकि यह सात्त्विक चित्तवृत्तिरूप ही है किन्तु बाहर से प्रकाशित होने के कारण [बहिरुद्भिन्नस्वभावश्चित्तवृत्यात्मनो गृह्यन्ते ... तेन न पौनरुक्त्यम्] इनका अनुभावरूप में ग्रहण किया है जैसे कि लोग कहते हैं—इसका गला भर आया है पर आँखें आँसू से सूनी हैं।

करुण रस उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥ ६३ ॥

॥ इति करुणरसप्रकरणम् ॥

फूट-फूट कर रोने, मूर्च्छा, पश्चात्ताप, विलाप, देह पटकने एवं [छाती आदि] पीटने के द्वारा[1] करुण रस का अभिनय किया जाना चाहिये ॥ ६३ ॥

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

रौद्ररस का लक्षण स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः । स च क्रोधाघर्षणाधिक्षेपानृतवचनोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदनप्रहरणाहरणशस्त्रसम्पातसम्प्रहाररुधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि । पुनश्च रक्तनयन-भ्रुकुटीकरणदन्तोष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

रौद्ररस का स्थायीभाव क्रोध है। यह राक्षस, दानव एवं उद्धत प्रकृति के मनुष्यों में युद्ध द्वारा होता है। यह क्रोध, बलपूर्वक खींचने, अधिक्षेप, झूठ बोलने, चोट लगने [उपघात], कठोर वचन, डाह, मात्सर्य, आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसके कार्य [अनुभाव] मारना, फाड़ना, दबाना, छेदना, प्रहार करना[2], शस्त्रपात, शस्त्र-प्रहार[3], खून निकालना आदि हैं। लाल आँखों से, भृकुटि चढ़ाने से, दाँतों व ओठों को दबाने से, गालों को फड़काने से तथा हथेलियों को मसलने आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए।

---

१. अभिनवगुप्त का मत है कि यह सब अनुभाव पात्रों की उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति को ध्यान में रखते हुए प्रयुक्त किये जाने चाहिए।

२. आहरण—श्री विश्वेश्वर ने इसका अर्थ शस्त्रपातन [न काटने वाला] किया है। श्री बाबूलाल शास्त्री के अनुसार इसका अर्थ शस्त्रों का लाना है। अर्थात् यह दोनों इसे आगामी पद शस्त्र के साथ अन्वित करते हैं। किन्तु हमारे मत में ऐसा जबर्दस्ती अन्वय किये बिना ही इसका अर्थ 'बलात् उठाना' या 'घसीटना' मानना अधिक तर्कसंगत है।

३. अभिनव के मत में शस्त्रपात से ऐसे प्रहार का बोध होता है जिससे कट जाए व सम्प्रहार से न काटने वाले प्रहार का बोध होता है [शस्त्रस्य सम्पातनमविदारयतोऽपि । सम्प्रहरणं विदारयतः पातनम्]।

भावाश्चास्यासम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्वस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद् - गदादयः ।

इसके व्यभिचारिभाव असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, गर्व, स्वेद, कम्पन, रोमांच एवं गद्गद स्वर आदि होते हैं ।

अत्राह—यदभिहितं रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः । किमन्येषां नास्ति ? उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः । किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते । ते हि स्वभावत एव रौद्राः । कस्मात् ? बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धूतविकीर्ण-पिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव । यच्च किञ्चि-त्समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम् । शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते । तेषां चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सङ्ग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः ।

यहाँ शंका की जाती है कि—रौद्र रस यदि दानवादि में होता है तो क्या अन्य व्यक्तियों [मनुष्यों आदि] में नहीं होता ? इसका उत्तर है कि इतर जन में भी रौद्र रस होता है । किन्तु यहाँ विशेषतया राक्षसादि को ही इसका अधिकारी माना गया है । इसका कारण यह है कि स्वभावतः वे रौद्रस्वरूप होते हैं क्योंकि वे अनेक बाहुओं वाले, अनेक मुख वाले तथा उड़ते बिखरे पीले केशों से युक्त एवं लाल लाल उद्धत आँखों वाले तथा विशाल एवं काले रंग के होते हैं । वे लोग वाचिक या आंगिक जो भी क्रिया साधारण रूप से भी करते हैं तो वह भी रौद्र ही होती है । अधिकतर वह शृङ्गार का प्रयोग भी बलपूर्वक ही करते हैं । उनके अनुकर्ता जनों में भी युद्ध तथा प्रहार आदि से रौद्ररस उत्पन्न होता है ।

आर्या छन्द में रौद्र रस के विभाव अनुभाव—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः सञ्जायते रौद्रः ॥ ६४ ॥

एतद्विषयक यह दो परम्परागत आर्याएँ हैं—

युद्धप्रहार, मार डालने, अंगच्छेद करने, फाड़ देने तथा युद्ध के लिए शीघ्रता से शस्त्रादि ग्रहण करने आदि से रौद्ररस उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ६५ ॥

विविध प्रकार के अस्त्र प्रहार, सिर, धड़, भुजा आदि के काटने एवं इसी प्रकार के विशेष कार्यों द्वारा रौद्ररस के अभिनय का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६५ ॥

इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥ ६६ ॥

॥ इति रौद्ररसप्रकरणम् ॥

इस प्रकार उग्र वाचिक एवं आङ्गिक चेष्टाओं से युक्त, शस्त्रप्रहार के आधिक्य से युक्त एवं भयानक कर्मों के सम्पादन से युक्त रौद्ररस देखा गया है ॥ ६६ ॥

अथ वीररसप्रकरणम्

वीर रस का लक्षण स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारीभाव—

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासंमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्यस्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्य धृतिमिति गर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चादयः ।

वीर रस उत्तम-प्रकृति वाला, एवं उत्साहपूर्ण होता है[1] । मतिभ्रम न होने पर, अध्यवसाय, नीति, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप प्रभाव आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है । इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, कुशलता आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए । इसके सञ्चारिभाव धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, रोमाँच, आदि हैं ।

आर्याछन्द में वीर रस के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव—

अत्रार्ये रसविचारमुखे—

उत्साहा[होऽ]ध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥ ६७ ॥

एतद्विषयक दो परम्परागत आर्याएं इस प्रकार हैं—

उत्साह, परिश्रम, अम्लानता, विस्मयशून्यता एवं विविध प्रकार के विशेष अर्थों से वीररस उत्पन्न होता है ॥ ६७ ॥

स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ ६८ ॥

॥ इति वीररसप्रकरणम् ॥

———o———

स्थिरता, धैर्य, शौर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव एवं आक्षेपपूर्ण कथन से वीररस का अभिनय किया जाना चाहिए ॥ ६८ ॥

---

१. उत्साह—उत्तमजन की प्रकृति होने के कारण उत्साह स्थायीभाव युक्त वीररस को भी उत्तम प्रकृति वाला माना जाता है [उत्तमानां प्रकृतिः स्वभावो यत् उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा] ।

अथ भयानकरसप्रकरणम्

भयानक रस का लक्षण, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

भय स्थायीभाव वाला भयानक रस होता है। यह विकृत शब्द[1], पिशाचों आदि के दर्शन, सियार, उल्लू आदि के त्रास से उत्पन्न उद्वेग के कारण, शून्य गृह या वन आदि में जाने से और प्रियजन के बध या बन्धन को देखने सुनने या चर्चा करने से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय कांपते हुए हाथ पैरों, नेत्रों की चंचलता, पुलकित होने से, मुँह फीका पड़ जाने से, आवाज बदले जाने आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए।

भावाश्चास्य स्तम्भ-स्वेदगद्गद-रोमाञ्च-वेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशंकामोहदैन्यावेगचापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः।

स्तम्भ, स्वेद, गद्गद होना, रोमाञ्च, कम्पन, स्वर भेद, रंग उड़ना, शंका, मोह दैन्य, आवेग, जड़ता, त्रास, अपस्मार तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव है।

आर्या छन्द में भयानक रस के विभाव, अनुभाव—

अत्रार्या:—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः॥ ६९॥

इस विषय में यह आर्याएँ हैं—

विकृत स्वर, प्रेतादि का दर्शन, युद्ध, वन या सुनसान घर में गमन तथा गुरु एवं राजा के प्रति अपराध हो जाने से बनावटी भयानक रस[2] उत्पन्न होता है॥ ६९॥

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार यह विकट रव अट्टहासादि का होता है (विकृतो रवोऽट्टहासादिः)।

२. अभिनवगुप्त का कथन है कि ऐसी परिस्थिति में पड़ने पर लोक में व्यक्ति इस प्रकार सुसंगत रूप से व्यवहार करता है कि गुरु आदि को प्रतीत होता है कि सचमुच ही डर रहा है। अस्वाभाविक होने से इसे कृतक कहा गया है। काफी समय तक रहने एवं आस्वादन के योग्य होने से उस भय को रस कहा गया है।

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ।। ७० ।।

अङ्गों, मुख एवं नेत्रों के परिवर्तन से, जाँघों के स्तभित हो जाने से, चतुर्दिक देखने से, उद्विग्न होने से, मुँह के झुक जाने एवं सूख जाने से, हृदय के धड़कने तथा रोमांच के द्वारा भय का अभिनय किया जाता है ।। ७० ।।

एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्त्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ।। ७१ ।।

स्वाभाविक भय इस प्रकार का होता है । पिशाचादि के देखने से उत्पन्न भय का भी अभिनय करना चाहिए । पुनः इन्हीं भावों से बनावटी भय प्रदर्शित करना चाहिए । किन्तु उसकी चेष्टाएँ मृदु होनी चाहिए ।। ७१ ।।

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ।। ७२ ।।

।। इति भयानकरसप्रकरणम् ।।

हस्तपाद के कम्पन, शरीर के प्रकम्पन, ओठ, तालु एवं कण्ठ की शुष्कता द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए ।। ७२ ।।

अथ बीभत्सरसप्रकरणम्

बीभत्स रस का लक्षण, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—

अथ बीभत्सो नामजुगुप्सास्थायिभावात्मकः । स चाहृद्याप्रियाचोष्यानिष्टश्रवणादर्शनकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेगमोहव्याधिमरणादयः ।

इस (भयानक रस) के पश्चात् (जुगुप्सा) स्थायीभाव वाला बीभत्स रस होता है । क्लेशदायी, अप्रिय एवं अनिष्ट पदार्थ को देखने, सुनने एवं कहने आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति होती है । समस्त अङ्गों को संकुचित करने, मुँह सिकोड़ने, उबकाई लेने (उल्लेखन)[1] थूकने (निष्ठीवन) एवं शरीर को ताड़ित करने (उद्वेजक) आदि विभावों से उसका अभिनय करना चाहिए । अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि एवं मरणादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं ।

आर्या छन्द में बीभत्स रस के विभाव, अनुभाव—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ।। ७३ ।।

---

१. उल्लेखन—"उल्लेखनमुल्लाघः" यह अभिनवगुप्त की व्याख्या है । तदनुसार इस शब्द का तात्पर्य वमनेच्छा या उबकाई मानना उपयुक्त प्रतीत होता है ।

एतद्विषयक दो आर्याएँ इस प्रकार प्रचलित हैं—

अवाञ्छित वस्तु के दर्शन, गन्ध, रस, स्पर्श एवं शब्द के दोषों से तथा अनेक प्रकार के उत्तेजित करने वाले पदार्थों से बीभत्स रस की उत्पत्ति होती है ॥ ७३ ॥

मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥ ७४ ॥

॥ इति बीभत्सरसप्रकरणम् ॥

—*—

मुख एवं नेत्रों को घुमाने, नाक को ढँक लेने, सिर को झुका कर एवं लड़खड़ाते हुए कदमों से[1] बीभत्स रस का अभिनय किया जाना चाहिए ॥ ७४ ॥

अथ अद्भुतरसप्रकरणम्

अद्भुत रस का लक्षण स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्य स्तम्भाश्रुस्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमजडताप्रलयादयः।

विस्मय स्थायीभाव वाला रस अद्भुत रस होता है। दिव्यजनों के दर्शन, इच्छित मनोकामना की प्राप्ति, उपवन देवमन्दिर आदि में जाने, सभा, विमान, माया तथा इन्द्रजाल आदि की अवतारणा आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है। आँखें फैलाने, अनिमेष देखने' रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, हा हा ध्वनिपूर्वक चिल्लाने[2] बाहु, मुख, वस्त्र या अंगुली को घुमाने आदि अनुभावों द्वारा

---

१. अभिनवगुप्त के मत में अव्यक्तपादपतन का तात्पर्य है परस्पर टकराते, उठते गिरते पैरों का पकड़ना या हड्डी एवं कंकालों से युक्त श्मशान में विचरण करते हुए व्यक्ति का कहीं छोटे एवं कहीं बड़े डग भरना (प्रतिघातादव्यक्तानि पादयोः पतनानि। यदि वाऽस्थिकंकालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति)।

२. यों तो प्रसन्नता एवं दुःख दोनों में हाहाकार किया जाता है किन्तु यहाँ अद्भुत वस्तु के दर्शन से चकित मन द्वारा किया गया हाहा शब्द अभीष्ट मानना चाहिए।

इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, आवेग; सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता, मूर्च्छा आदि इसके व्याभिचारी भाव हैं।

आर्याछन्द में अद्भुत रस के विभाव, अनुभाव—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ ७५ ॥

इसके विषय में दो आर्याएं प्रचलित हैं—

अतिशयता से युक्त जो भी वाणी, शिल्प क्रिया अथवा कर्मरूप हो उन सभी को अद्भुत रस में विभाव स्थानीय जानना चाहिए ॥ ७५ ॥

स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ७६ ॥

स्पर्श[1], ग्रहण, शरीर को ऊपर उछालने, हाहा शब्द करने, साधुवाद, कम्प, गद्गद वाणी एवं स्वेदादि के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए[2] ॥ ७६ ॥

शृंगार हास्य तथा रौद्र रस के तीन प्रकार—

शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नैपथ्यक्रियात्मकम्।
अङ्गनैपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥ ७७ ॥

वाणी, नेपथ्य एवं क्रिया भेद से शृंगार रस के तीन भेद होते हैं। अङ्ग, नेपथ्य एवं वाक्य के भेद से हास्य तथा रौद्ररस के भी तीन प्रकार होते हैं ॥ ७७ ॥

करुण रस के तीन प्रकार—

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः।
तथाशोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधःस्मृतः ॥ ७८ ॥

धर्मोपघातज, असंचयोद्भव शोककृत के भेद से करुणरस के तीन प्रकार होते

---

१. स्पर्श का अभिनय आँखों को कुञ्चित करके भौहों को आक्षिप्त रखते हुए एवं गालों को कन्धे से सटाकर करना चाहिये।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिर्दिशेत् ॥ (ना. शा. २४.८३)

२. अभिनवगुप्त के कथनानुसार इस सम्पूर्ण आर्या में बहुवचन के प्रयोग द्वारा विभिन्न पुरुषों की प्रकृतिगत भिन्नता को प्रदर्शित किया गया है।

है[1] ॥ ७८ ॥

वीर रस के तीन प्रकार—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥ ७९ ॥

ब्रह्मा ने वीर रस के तीन भेद बताए हैं—दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर ॥ ७९ ॥

भयानक रस के तीन प्रकार—

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च ।
पुनर्भयानकञ्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥ ८० ॥

कृत्रिम, अपराध एवं ज्ञान द्वारा उत्पन्न होने के आधार पर भयानक रस के तीन प्रकार होते हैं ॥ ८० ॥

बीभत्स रस के तीन प्रकार—

बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात् द्वितीयकः ।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः ॥ ८१ ॥

बीभत्स रस क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी के भेद से तीन प्रकार का होता है। विष्ठा एवं कीड़ों आदि के दर्शन उद्वेगी तथा रुधिरादि दर्शन से क्षोभज वीभत्स होता है[2] ॥ ८१ ॥

---

१. उत्तम जन में धर्मोपघातजकरुण की संभावना होती है। धर्महानि तो श्रेष्ठ नहीं होती पर उसका मूलभाव धर्मरक्षण होता है जो श्रेष्ठभाव होता है अतः धर्मोपधात की गणना उत्तम हेतुओं में की जा सकती है। धर्म से यहाँ अग्निहोत्रादि कार्यों का सम्पादन समझना चाहिए। शोक से स्वजननाश से उत्पन्न करुण समझना चाहिए।

२. रुधिरादि के दर्शन से उत्पन्न होने वाला वीभत्स रस क्षोभ से उत्पन्न होने के कारण क्षोभज एवं शुद्ध कहलाता है (रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो वीभत्सः क्षोभणत्वाद्बुद्धः)। विष्ठादि के दर्शन से उत्पन्न होने वाला बीभत्स उद्वेगज होने से उद्वेगी कहा जाता है। अशुद्ध भावों से उत्पन्न होने के कारण इसे अशुद्ध कहते हैं। (यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी हृदयं चलयति सोऽशुद्धः। अशुद्धविभावकत्वात्) इस विषय में भट्टतौत इन दोनों वीभत्सों को अशुद्ध मानते हैं। जो राग द्वेष का विरोधी एवं मोक्ष का साधक हो उसे ही शुद्ध वीभत्स मानना चाहिए। बीभत्स

अद्भुत रस के दो प्रकार—

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥ ८२ ॥

॥ इत्यद्भुतरसप्रकरणम् ॥

दिव्य एवं आनन्दज के भेद से अद्भुत रस के दो भेद प्रसिद्ध हैं। अलौकिक पदार्थ के दर्शन से 'दिव्य' एवं प्रसन्नता से उत्पन्न 'आनन्दज' अद्भुत रस माना जाता है ॥ ८२ ॥

अथ शान्तरसविचारः

शान्त रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव—

[अथ शान्तो नाम शमस्थायीभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः । स तु तत्त्वज्ञान-वैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमाध्यात्मध्यान-धारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्चादयः । आत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

[शान्तरस[1] का स्थायी भाव 'शम' होता है तथा यह मोक्ष का प्रवर्तक होता है। यह तत्त्व के बोध, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यम, नियम, आध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना; समस्त प्राणियों पर दया, लिंग ग्रहण आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमांच आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं।

का स्थायी भाव जुगुप्सा है जो योगांग होने से मोक्ष में उपयोगी है। शौच से सम्बन्ध होने से वीभत्स का स्थायीभाव जुगुप्सा भी मोक्ष साधन है। अतः उक्त दो भेदों के अलावा बीभत्स का यह तीसरा भेद भी हो जाता है। कारिका में जो 'द्वितीयकः' पद आया है इससे मोक्षोपयोगी वीभत्स की दुर्लभता होने से उसकी हीनता का संकेत किया गया है।

१. नव रस वादियों के मत में भरतमुनि ने भी नवम रस को स्वीकार करते हुए उसके लक्षण का प्रतिपादन किया है। शान्त रस की सत्ता न मानने वालों के मत में एक तो शम एवं शान्त शब्द पर्याय हैं। अतः इनमें से एक को स्थायी भाव व दूसरे को रस मानना ठीक नहीं है (शमशान्तयोः पर्यायत्वात्)। दूसरे भावों की संख्या उनचास मानी गयी है। शम को भाव मानने पर संख्या वृद्धि होने लगेगी (एकोनपञ्चाशद् भावा इति संख्या त्यागाच्च)। तीसरा तर्क यह है कि ऋतु माला आदि विभाव श्र-ृ-ार रस के कारण रूप प्रतीत होते हैं। किन्तु तप स्वध्या-

यादि शान्त में कारणरूप नहीं प्रतीत होते (∴ तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तरूप शमस्य हेतवः)।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ के रूप में प्रसिद्ध है।

चौथी बात यह है कि किसी भी प्रकार की चेष्टा के अभाव का नाम शम है जिसका अभिनय असम्भव है। निद्रा एवं मूर्च्छा को व्यापारहीन माना जाता है किन्तु इसमें भी लेटने, गिरने या श्वास, प्रश्वास रूप चेष्टा तो रहती ही है। पाँचवीं युक्ति है कि शान्तरस में धृति को व्यभिचारिभाव माना गया है। पर धृति का जन्म तो विषयास्वादन के फलस्वरूप होता है तो उसकी शान्तरस में उपस्थिति तर्कसंगत नहीं। छठा तर्क यह है कि शान्तरस में व्यक्ति निस्पृह रहता है तो फिर मोक्षरूप फल की प्राप्ति हेतु उसका प्रयास भी सम्भव नहीं है। सातवां तर्क यह है कि यद्यपि शान्तरस को सुख-दुःख से परे माना जाता है पर ऐसा देखा जाता है कि शान्तरस के साधक तत्त्वज्ञान पा लेने पर भी दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं।

इन तर्कों के द्वारा शान्तरस की सत्ता को निर्मूल सिद्ध करने वाले पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए शान्तरसवादियों का कथन है कि धर्मादि पुरुषार्थत्रय के समकक्ष ही चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की भी सत्ता है। जिस प्रकार काम आदि उपयुक्त रति आदि चित्तवृत्तियों से शृङ्गार आदि का रसास्वादन किया जाता है उसी प्रकार मोक्ष के उपयुक्त शम चित्तवृत्ति से शान्तरस का आस्वादन किया जाता है। यही शम रूप चित्तवृत्ति शान्तरस का स्थायी भाव है।

शान्त रस का स्थायिभाव तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद है (......... तत्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्)। भरतमुनि ने निर्वेद की गणना व्याभिचारिभावों में की है। पर उसे स्थायी भाव इस प्रकार मान सकते हैं कि भरतमुनि ने बीभत्स रस के स्थायीभाव जुगुप्सा के शृंगार में व्यभिचारीभाव में निषेध करते हुए समस्त स्थायीभावों का अपने रस में स्थायीभावत्व तथा अपने से भिन्न रसों में व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने की अनुमति दी है। यदि कोई भाव स्थायी है तो वही व्यभिचारी भी हो सकता है। अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होने वाला निर्वेद भी स्थायी एवं व्यभिचारी होकर भी शान्त रस का स्थायीभाव बन सकता है। अभिनव का मत है कि शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद नहीं (तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति)।

प्रश्न उठता है फिर शान्तरस का स्थायी भाव कौन है (कस्तर्ह्यत्र स्थायी)? अभिनव का कथन है कि ज्ञान आनन्द आदि धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही यहाँ स्थायी है (तेनात्मैव ज्ञानानन्दादि विशुद्ध

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥

मोक्ष तथा आत्मा विषयक चिन्तन से उत्पन्न, तत्वज्ञान के विषयरूप हेतुओं से संयुक्त और मोक्ष का उपदेश देने वाला शान्तरस होता है ।

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥

ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं के संरोध से स्वात्म की अवस्थिति से संयुक्त कराने वाला तथा सभी लोगों के सुख के कारण भूत रस को शान्त रस समझना चाहिए ।

धर्मोपयोगी परिकल्पित विषयोपभोगरहितोऽत्र स्थायी) । यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि शान्तरस में आत्मा को स्थायी नहीं माना जा सकता ; क्योंकि आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान (साक्षात्कार) समधिकाल में ही होता है । अन्य रसों में आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता ।

जहाँ तक शान्तरस के पृथक् अस्तित्व का प्रश्न है तो इसकी अलग सत्ता मानना ही उचित है क्योंकि शान्तरस का आस्वाद रत्यादि के आस्वाद से विलक्षण ही होता है ।

प्रश्न उठता है कि इस शान्तरस का आस्वादन किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर है कि जैसे सूत्र से मणियाँ पिरोई होने पर बीच बीच में सूत्र भासित हो जाता है उसी प्रकार उत्साह एवं रत्यादि से आत्मा के आच्छादित रहने पर भी बीच बीच में आत्मा का स्वरूप भासित होता रहता है । उस समय रत्यादि रूप उपरञ्जकों के उस रूप में रहने पर भी यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता आदि दुःखों से रहित एवं परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्नरूप से काव्य तथा नाटक आदि के द्वारा समान रूप से प्रतीत होते हुए अन्तर्मुखी अवस्था भेद से लोकोत्तर आनन्द का प्रापक होकर हृदय को भी उस प्रकार का आन्दमय बना देता है ।

इस प्रकार रसों की संख्या नौ ही है—

[एवं ते नवैव रसाः] न इससे कम, न इससे अधिक । अर्थात् शान्तरस की असत्ता या वात्सल्य रस अथवा भक्ति रस की सता को अभिनव ने स्वीकार किया है । उनका स्पष्ट कथन है कि आर्द्रता स्थायिभाव से युक्त स्नेह नामक दशम रस को मानना उचित नहीं है [आर्द्रतास्थायिकः स्नेही रस इति त्वसत] । भक्ति रस की भी अलग सत्ता नहीं । उसका भी रति आदि में अन्तर्भाव सम्भव है [एवं भक्तावपि वाच्यमिति] ।

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥

जहाँ दुःख, सुख, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि कोई भी भाव नहीं होता, तथा जो सभी भावों में एक रूप होता है वह शान्त रस के नाम से प्रसिद्ध है ।

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥

रत्यादि भाव विकार हैं । शान्त रस सबकी प्रकृति है । अन्य सभी भाव विकार होने से प्रकृति से उत्पन्न होते हैं व इसीमें विलीन हो जाते हैं ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥

अपने अपने निमित्त कारणों को पाकर भाव शान्त रस से जन्म लेते हैं और उन उन निमित्तों के न रहने पर वे पुनः शान्त रस में विलीन हो जाते हैं ।

उपसंहार—

एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ।]

इस तरह नाट्य के ज्ञाताओं ने लक्षणों से युक्त नौ रसों का अवलोकन किया है ।]

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥ ८३ ॥
॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्यायः षष्ठः ॥

———

अतः इस प्रकार के लक्षणों से वर्णित इन आठ रसों को जानना चाहिए। इसके आगे अब हम भावों के लक्षण बतायेंगे ।

॥ इस प्रकार भरमुनि प्रणीत नाटचशास्त्र की 'नाटचप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का रस विषयक षष्ठ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

———